बृहद्योगसोपान

हिन्दीटीकासहित

खेमराज श्रीकृष्णदास
प्रकाशन
बम्बई

श्रीः

बृहद्योगसोपान

हिन्दीटीकासहित

लेखक :

प्रतापगढ़प्रान्तान्तर्गत भँवरी (पूरे तिलकदास)

ग्रामनिवासी पं० रामनरेश मिश्र शास्त्री

मुद्रक एवं प्रकाशक:

खेमराज श्रीकृष्णदास,

अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,

खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग, मुंबई - ४०० ००४.

श्रीः

प्रथम वक्तव्य

यह संसार क्या है, इसके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है, हम कौन हैं, यह दृश्यमान सारा प्रपञ्च क्या है, इसका सूत्रधार कौन है, अथवा यह संसार चक्र अपने आप ही चल रहा है ? इत्यादि विचिकित्साओंका तथ्यरूपसे बता देना–समझा देना दर्शनशास्त्रका मुख्य ध्येय है । पूर्व और पश्चिमके प्राचीन एवं अर्वाचीन समस्त दर्शन-साहित्यका मुख्यतः आलोच्य विषय यही रहा है और अब भी है ।

उपरोक्त जिन समस्यांओंके हल करनेका भार दर्शन-शास्त्रने लिया है वे बड़ी व्यापक हैं, दुर्बोध हैं, अपरिमेय हैं और विचारणीय हैं । उक्त विचिकिसाओंका यथार्थतः विवेचन हो जाना सारे संसारकी समस्त उलझनोंका विवेचन कहा जा सकता है । कारण कि यह संसार क्या है, इसके साथ प्राणियोंका सम्बन्ध क्या है, प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षणमें क्यों परिणमित हुआ करता है ? आदि विषयोंका वास्तविक ज्ञान हो जाना ही तो सारे प्रपञ्चका जानना कहा जाता है । इतने बड़े विवेचनका महान् उत्तरदायित्वका भार दर्शनशास्त्रके शिरपर है और होना भी चाहिये । क्योंकि एक दर्शनशास्त्र ही ऐसा है जो पदोंकी ओटमें छिपे हुए सारे रहस्यको मानव-समाज के सामने प्रकट कर देता है, समझा देता है और परिणामी हृदय पटलों पर विश्वासकी प्रतिमा प्रतिष्ठित कर देता है ।

प्राच्य और प्राचीन दर्शन शास्त्रके मुख्य छः विभाग हैं–१ योग, २ सांख्य, ३ पूर्वमीमांसा, ४ उत्तरमीमांसा (वेदान्त), ५ न्याय और ६ वैशेषिक । इन छहोंमें दो दो का परस्पर जोड़ा माना जाता है, जैसे–योग और सांख्यका, वैदान्त और मीमांसाका तथा न्याय और वैशेषिकका इन सबोंको साधारण दृष्टिसे देखा जाय तो इनके द्वारा निश्चित होता है कि यह संसार तीन श्रेणियोंमें विभक्त है–१ प्रकृति, २ जीव, ३ ईश्वर ।

(१) प्रकृति–उसे कहना चाहिये जो चर्मचक्षुओं द्वारा दीखनेवाले इस महान् जगत को उत्पन्न करती है । यानी यह स्थूलरूप संसार ही प्रकृति शब्दसे सम्बोधित होता है । यह प्रकृति जड़ है और त्रिगुणात्मक है ।

(२) जीव – संसारका वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाग है जो प्राणियोंके अन्दर पायी जानेवाली चेतनाशक्ति कही जाती है । इसी चेतनाशक्तिके द्वारा प्राणिमात्र जीवित कहे जाते हैं और विविध प्रकारके व्यापार कर पाते हैं । इसके विना पृथ्वी आदि जड़ भूतों के सम्मेलन से बना हुआ यह स्थूल शरीर बेकाम हो जाता है, चेष्टारहित हो जाता है और नष्ट भी हो जाता है ।

(३) ईश्वर–संसारका वह तीसरा विभाग है जो उक्त दोनोंसे 'परे' है । यही जगन्नियन्ता या संसारका सूत्रधार माना जाता है, परन्तु साधारण श्रेणीके व्यक्ति इस 'परे पदार्थका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर सकते इसलिये इसकी सत्ता सबसे अधिक विवादग्रस्त है । यद्यपि इस भौतिक जगत्में कोई कोई दार्शनिक या विज्ञानवेत्ता ऐसे हो गये हैं जो ईश्वरको नहीं मनाते और निरीश्वरवादी कहलाते हैं, पर तो भी आस्तिक सम्प्रदायको एक ऐसी विशेष शक्तिकका मानना अन्ततोगत्वा अनिवार्य हो जाता है जो जीवात्मा शक्तिको परेशान करके दूर बैठा

देती है—विवश कर देती है और अपनेसे अतिरिक्त एक दूसरी शक्तिको माननेके लिये बाध्य कर देती है। फलतः जो निरीश्वरवादी कहलाते हैं उन्हें छोड़कर सभी दार्शनिक ईश्वरशक्ति को मानते हैं।

इस तरह इस संसारके 'प्रकृति-जीव ईश्वर' इस विभागत्रयकी मीमांसाके लिये दर्शन-साहित्यकी सृष्टि हुई है और इसीकी विवेचनामें समाप्ति भी हो जाती है। उक्त षडदर्शनोंमेंसे 'योग-दर्शन' इस पुस्तकका विषय है इसीलिये इसे 'बृहद् योगसोपान' इस अन्वर्थ नामकी उपलब्धि हुई है और इसका सहयोगी है 'सांख्य-दर्शन।' सांख्य और योगके मुख्य मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

योग और सांख्य दोनों ही इस संसारको प्रकृतिका परिणाम मानते हैं तथा प्रकृतिका स्वरूप भी एकसा ही मानते हैं। सांख्य मतानुसार सन्दिग्ध विरक्त मनुष्य अधिकारी है, किन्तु योग एकाग्र चित्तवालेको अधिकारी मानता है। सांख्यने १ अव्यक्त, १ महान्, १ अहंकार, ५ महाभूत, ५ तन्मात्रा और ११ इंद्रियां ये २४ तत्त्व माने हैं। पर योगने एक ईश्वरतत्त्व और मानकर २५ तत्त्व माने हैं। सांख्य तो ईश्वरको साकार माननेकी कोई आवश्यकता नहीं समझता किन्तु योग समाधि प्राप्त करनेके लिये साकार भी मानना है। सांख्य जीव' को चैतन्य, विभु, अनेक व असंग और भोक्ता मानता है और योग इन विभूतियोंके साथ साथ उसे 'कर्ता भी मानता है। सांख्य-मतने संसारका कारण केवल त्रिगुणात्मक प्रकृतिको माना है और योगिक मतने प्रकृतिके साथ साथ ईश्वरको भी प्रेरकरूपसे कारण माना हैं। सांख्य और योग दोनों परिणामवादी हैं, एवं द्वैतवादी भी। दोनों प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीनों प्रमाणोंके मनानेवाले हैं। सांख्य 'त्वं' पदार्थका शोधक है और योग चित्तैकाग्‍्य' का शोधक है। सांख्य ज्ञानकाण्ड है और योग उपासनाकाण्ड है।

इस प्रकार ये दोनों दार्शनिक प्रायः एक पथपर चलनेवाले हैं। यही कारण है कि योग-शास्त्रको 'सेश्वर-सांख्य' कहा जाता है। योगके साथ सांख्यकी मित्रताका परिचय भगवान श्रीकृष्णचन्द्रन भी इन अक्षरोंमें दिया है :—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥

सांख्य और योग इन दोनोंमेंसे किसी भी एकका अनुष्ठान किया जाय पर फलमें अन्तर नहीं पड़ सकता। इसलिये इन दोनोंको जो लोग पृथक्फलक समझते या बताते हैं वे पंडित्त नहीं कहे जा सकते।

---

१ दार्शनिकोंके यहां — १ विवर्तवाद, २ परिणामवाद, और ३ आरंभवाद; ये तीन मत माने गये हैं। (१) रज्जुमें सर्पकी प्रतीति होना 'विवर्त' कहा जता है और (२) दूधसे दही बन जाना 'परिणाम' है। एवं (३) पाषाण आदि अनेक पदार्थोंको इकट्ठा कर एक इमारत खड़ी कर देना 'आरंभ' कहाता है।

उक्त मतोंमेंसे न्याय, वैशेषिक और पूर्वमीमांसा तो आरंभ-वाद मानते हैं और वेदांत विवर्त वाद मानता है। किंतु योग और सांख्य परिणाम-वाद मानते हैं।

सारांश यह कि —

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।

जो पदवी सांख्यवालेको मिल सकती है वही योगवालेको प्राप्त होगी इसमें सन्देह नहीं, पर इन दोनोंकी एकताके रहस्यको यथार्थरूपसे जानना ज्ञानियोंका ही काम है ।

परन्तु पहले कहा जा चुका है कि सांख्य ज्ञानवादी है और योग कर्मवादी है । बिना कर्म या उपासनाके मोक्षकी उपलब्धि नहीं हो सकती यह बात हम ९ वें प्रकरणके अन्तमें मोक्षके निरूपणमें व्यक्त कर चुके हैं, फलतः यही इतनी योग और सांख्यमें विषमता है । इसी विषमता से सांख्यके लिये ऐसी परिस्थिति उपस्थित की है कि जिसके कारणसांख्य सिद्धान्तको हानि उठानी पड़ी और योगका साम्राज्य आजतक अक्षुण्ण बना हुआ है तथा भविष्यमें रहेगा भी । वास्तवमें यदि पक्षपातरहित दृष्टिसे देखा जाय तो योगदर्शन सभी दर्शनोंकी अपेक्षा विशेष शक्तिशाली, उपकारक एवं व्यापक है । योगके वैशिष्ट्यमें यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उपोद्घात प्रकरणमें लिखा जा चुका है तो भी सिद्धान्तस्वरूप शिवसंहिताका एक श्लोक उद्धृत करते हैं :—

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं परं मतम् ।।

जिस योगशास्त्रका इतना बड़ा महत्त्व है कि जो समस्त दार्शनिक क्षेत्रोंका एक सम्राट कहा जाता है उसके आदि निर्माता कौन हैं ? इस विषयमें निश्चितरूपसे यही कहा जा सकता है कि योगके प्रथम आचार्य हिरण्यगर्भ हैं, फिर इनके पीछे वार्षगण्य और याज्ञवल्क्य आदि हुए हैं किन्तु योगसूत्रके रचयिता श्रीपतञ्जलिजीने जो योगशास्त्रकी पताकाको इतना ऊँचा उठा दिया है कि इसकी छत्रछायाके सामने अन्य सभी दार्शनिकोंकी छत्र-छाया संकुचित हो जाती है । कहा जाता है कि पहले योग और सांख्यकी परस्पर बड़ी भिन्नता थी, पर 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।" इस आप्त वचनकी सार्थकता पूर्णतया श्रीपतञ्जलिजीने ही की है । अस्तु, जो कुछ भी हो, परन्तु यह निश्चित बात है कि योगतत्त्वका असली सिद्धान्त योगसूत्रद्वारा ही परिस्फुट हुआ है ।

श्रीपतञ्जलिजी कब हुए, इनका ठीक ठीक जन्मकाल क्या था ? इत्यादि बातें विवाद-ग्रस्त हैं, कोई कुछ कहता है तो कोई कुछ, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये व्यासदेवजीसे पहले हुए हैं, क्योंकि योगसूत्रपर व्यासदेवकृत भाष्य सबके सामने है ।

श्रीपतञ्जलिजीका आचार्यत्व

इनका आचार्यत्व केवल योगशास्त्र ही तक सीमित रहा हो यह बात नहीं है किन्तु ये तीन विषयके श्रेष्ठ आचार्य हो गये हैं । यानी ये एक योग ही क्या, प्रत्युत व्याकरण और ज्योतिषके भी आचार्य माने जाते हैं इस विषयमें अनेक मत मतान्तर हैं, पर अन्तमें यही कहा जा सकता है कि ये ही योगसूत्रके रचयिता पतञ्जलिजी राजमृगांक (वैद्यक) और महा-भाष्य (व्याकरण) के भी निर्माता हैं ।

तभी तो —

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां,
मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।

योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां,
पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।।

यह योग पढ़नेवालोंमें परम्परागत श्लोक प्रसिद्ध है कि 'जिन्होंने योगशास्त्र द्वारा चित्तके, व्याकरणभाष्य द्वारा वचनके और वैद्यक द्वारा शरीरके दोषोंको दूर कर दिया है उन पतञ्जलिजीको करबद्ध नमस्कार है ।' वास्तवमें इन्हें चित्त, वचन और शरीर, इन तीनोंके दोषोंको दूर करना था और इसीसे इन्होंने तीन ग्रन्थ यानी योगसूत्र चित्तकी शुद्धिके लिये, महाभाष्य वचनकी शुद्धिके लिये और वैद्यकग्रन्थ शरीरके मल दूर करनेके लिये लिखे हैं, यह निश्चित सिद्धान्त है ।

प्रस्तुत पुस्तकका संकलन श्रीपतञ्जलिजीके बनाये हुए योगसूत्रकी प्रधानतामें हुआ है और जिन २ ग्रन्थोंसे मूलपाठ लिया गया है उन सबके स्थान स्थानपर नाम निर्दिष्ट कर दिये गये ह । इस छोटी सी पुस्तक-मंजूषामें योगसम्बन्धी सभी ज्ञातव्य विषयोंका सरल रीतिसे समावेश है । शब्दावलियोंमें पूर्णतया इस बातका ध्यान रखा गया है कि कठिन शब्दोंका प्रयोग न होने पाये जिससे यह सर्वसाधारणके उपयोगकी चीज बन सके, पर इसके द्वारा जनताको कितना लाभ हो सकेगा यह तो जनताकी गतिविधिपर ही निर्भर है । अथवा यों कहिये कि कालचक्रके गर्भमें है । इसको सर्वांग सुन्दर बनानका यथासाध्य प्रयत्न किया गया है, पर सर्वांश में इसका संकलन उत्तम हुआ यह नहीं कहा जा सकता, कारण यह है कि एक तो "भ्रम होना" मानवमात्रके लिय नैसर्गिक नियम है, दूसरे पुस्तकको स्थूलकाय रूपमें देखना अभीष्ट न था । अस्तु, यदि इसकी ओर जनताकी अभिरुचि हुई तो द्वितीय संस्करणमें और भी अधिक उपादेय बनानेका प्रयत्न किया जायगा ।

संक्षेपमें इस पुस्तकके लिखनेका परम उद्देश यही है कि इस राष्ट्र विप्लव युगमें पुनः यौगिक नियमोंका प्रत्येक मानवीय मानसमें सुस्थिर आवास हो जिससे अपने अपने परम पुरुषार्थरूप चतुवर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की प्राप्ति हो सके । मतलब यह कि प्रस्तुत पुस्तकमें ब्रह्मचर्य और आसन, प्राणायाम आदि अनेक हितकारी साधनोंका उल्लेख किया गया है, इसलिये ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुख-समृद्धिके चाहनेवाले मानव-समाजको इसे अवश्य अवलोकन करना चाहिये, साथ ही उसके अनुसार आचरण करनेके लिये भरसक प्रयत्न भी करना चाहिये अन्यथा अवलोकन हाथीके स्नानके समान व्यर्थ हो जाता है ।

इसके संकलन करनेमें जिन जिन ग्रन्थकारों, टीकाकारोंके लेखोंसे सहायता मिली है उनके लिये सादर श्रद्धाञ्जलियां समर्पित करता हूं । साथ ही उन श्रद्धेय व्याकरण पोष्टाचार्य पं० श्रीकृष्ण शास्त्रीजीका भी कृतज्ञ हूं जिनसे जहां कहीं सन्दिग्ध स्थलोंपर सत्परामर्श कर लिया करता था । इसमें जो जो 'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः" इस न्यायानुसार त्रुटियां रह गयी हों उन्हें सहृदय पाठकजन सँभाल लें यही नम्र निवेदन है ।

अन्तमें मैं उन स्व. श्रीमान् सेठ 'रावसाहब' श्री रंगनाथ जी और स्व. श्रीमान् सेठ श्री-निवासजीको कोटिशः हार्दिक शुभाशीर्वाद एवं धन्यवाद देता हूं—जो स्व० श्रीमान् सेठ 'धर्मरत्न' खेमराज श्रीकृष्णदासजीके आत्मज—सुयोग्य सन्तान हैं, जिन्होंने इस पुस्तकके लिखनेकी मुझे आज्ञा प्रदान की है । इसका पुनर्मुद्रणादि सर्वाधिकार इन्हीं दोनों श्रेष्ठिवर्यों को सादर समर्पित है, फलतः इसके प्रकाशनका विचार दूसरे प्रकाशक कदापि न करें ।

श्रावण कृष्ण ८ मंगलवार,
सं० १९९२, ता. २३–७–३५ बम्बई. }

रामनरेश मिश्र.

✱ सदीड्यं सान्वयं सेव्यं सहगौरत्रिपाठिनम् । ✱

छात्रपालं 'छत्रपालं' गुरुं नौमि निरन्तरम् ।।

समर्पणम्

श्रीगुरुवरकी रखी हुई थी, थाती मेरे पास ।
उसे आजतक खूब सँभाला, रञ्चक हुई न ह्रास ।।
पर अब नहीं सँभाल सकूँगा, इससे लिखकर आज ।
बृहद् योग सोपानरूप वह, थाती सहित सुसाज ।।
उन गुरुवरके पद–पद्मोंमें, 'प्रेम'–विनयके साथ ।
अर्पित है स्वीकार करें, वे नित्य नवाऊँ माथ ।।
उनके पद-पद्मोंमें पड़कर, सुरभित हो यह ग्रन्थ ।
योगसिद्धिकी रीति बताकर, कर दे सुरभित पन्थ ।।

आपका किंकर–
रामनरेश मिश्र

श्री :

अथ बृहद्योगसोपानकी विषयानुक्रमणिका

इति अनुक्रमणिका

श्रीः

श्रीबृहद्योगसोपानम्

हिन्दीटीकासहितम्

उपद्घात प्रकरण

मङ्गलाचरण

यो योगेशो योगगम्यः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
तं कृष्णं सततं वन्दे देहिनां योगसिद्धये ।। १ ।।

श्रीमत्पतञ्जलिप्रोक्त––योगशास्त्रमहोदधेः ।
पद्यानि मौक्तिकानीव कानिचिद्विचिनोम्यहम् ।। २ ।।

नृ–भाषासूत्रयोगेन हारं कुर्वे यथाविधि ।
यं धृत्वा शाश्वतीं कान्ति यन्तु लोके मुमुक्षवः ।। ३ ।।

मिश्र–रामनरेशेन श्रीशिवनाथ–सूनुना ।
वितन्यते बृहद्योग–सोपानं पुरुषार्थदम् ।। ४ ।।

मैं समस्त मानव–गणको योग-मार्ग द्वारा सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त होनेके लिये उस सच्चिदानन्द स्वरूपकी वन्दना करता हूँ जो योगसाधनमार्ग तय करने पर प्राप्त होने वाला योगेश 'कृष्ण' कहाता है ।। १ ।। कृष्णचन्द्रकी वन्दनापूर्वक आज मैं महर्षि श्रीपतञ्जलिजीसे उत्पन्न हुए योगशास्त्र समुद्रसे मोतियोंकी तरह कुछ पद्योंका विचयन (संग्रह) और उनको नृभाषा (हिन्दी) रूपी सूत्रमें यथाविधि गुथकर पुरुषार्थ-प्रदान करनेवाला वह अमूल्य हार बना रहा हूँ कि जिसे मुमुक्षु जिज्ञासु जन अवलोकन करतेही सरलतापूर्वक अपने अपने कण्ठ अथवा हृदयमें धारण कर उस शाश्वतिक स्थानमें जाकर विराजमान हो जाया करेंगे जहां द्वन्द्वपदार्थका सर्वथा अत्यन्ताभाव रहता है ।। ३ ।। ४ ।।

योगी अथवा योग-रूपका, एकमात्र जो ईश ।
योग–कर्मसे मिलनेवाला, जो सच्चा जगदीश ।।
जो सच्चिदानन्द-वपु-धारी, लीला-कारी एक ।
उसी कृष्णकी करूँ वन्दना, निश दिनबार अनेक ।। १ ।।

---

१ यह नमस्कारात्मक और वस्तु-निर्देशात्मक चार पद्यों द्वारा मंगलाचरणका निरूपण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्गकी प्राप्तिकी ओर संकेत करता है ।

उसकी कृपा-कटाक्ष-कोरसे, देही देखे जायँ।
उसकी प्रखर-प्रभा द्वारा नर, ज्ञान-रत्न पा जायँ ।।
उन रत्नोंका 'हार' बनावें, विधि-पूर्वक नर-मात्र।
निज निज उरमें धार, सभी जन, बनें योगके पात्र ।। २ ।।

दीख पड़े प्रत्येक पात्रमें, योग-तत्त्वका रूप।
पा जाये प्रत्येक पात्र, फिर, योग—रूपका भूप ।।
अपना भुप वही तो है, जो कहलाया ,दधि-चोर'।
वही 'प्रेम' से फिर मिल जाये, आकर अपनी ओर ।। ३ ।।

—'प्रेम'

अनुबन्ध चतुष्टय

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते ।।
ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बंधः सप्रयोजनः ।। ५ ।।

जबतक शास्त्र—सम्वन्धी ही नहीं, बल्कि किसी भी कार्यके करनेका प्रयोजन नहीं निश्चितहो जाता तबतक कोई भी कार्य करनेमें प्रवृत्त नहीं होता। इसलिये ज्ञातार्थ और ज्ञात—सम्बन्ध सुननेके लिये श्रोतागण प्रवृत्त होते हैं अतः ग्रन्थके आदिमें प्रयोजन सहित सम्बन्ध आदिका निरूपण करना चाहिये ।। ५ ।।

उपरोक्त सिद्धान्तानुसार इस संग्रहात्मक ग्रन्थका भी प्रयोजन आदि अनुबन्ध सर्व प्रथम लिखता हूँ :—

विषय—निरूपण

जीव और ब्रह्म की एकता प्राप्त होनेके लिये निर्विकल्प समाधिका प्राप्त होना परमपुरुषार्थ कहाता है और उस समाधिका उत्तम मार्ग बता देना इस ग्रन्थका 'विषय' है।

शंका—एक तो प्रकृतिजन्य जितने कार्य हैं, सबके सब परिणामी हुआ करते हैं और यह चित्त प्रकृतिका कार्य होनेके कारण प्रत्येक क्षणमें परिणामित होता रहता है। यह व्यासदेवजीने भी माना है। इसलिये पवनसे भी अत्यन्त अधिक चञ्चल चित्त द्वारा निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? दूसरे कदाचित् चित्त रुकने भी लग जाय; पर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभि-

निवेश इन पांचों *क्लेशोंसे युक्त, एवं एक देशमें रहनेवाले जीवका और उक्त क्लेशोंसे रहित सर्वव्यापक ब्रह्मकी एकता (मेल) कैसे हो सकती है? कारण यह है कि परस्पर विरुद्ध पदार्थोंकी एकता अथवा मित्रता नहीं हुआ करती। इसलिये इस ग्रन्थका विषय उपयोगी नहीं है?

समाधान–यद्यपि यह चित्त इतना चञ्चल और उद्दण्ड है कि इस घोड़े पर लगाम पकड़कर सवारी करना असम्भव-सा प्रतीत होता है, पर उपयुक्त क्रिया और अभ्यास ऐसी वस्तु हैं कि इनके बलसे एक न एक दिन अवश्य इसपर सवार होकर विचारशील मनुष्य अपने अभीष्ट स्थानपर पहुँच सकता है। इस विषयमें इससे बढ़कर दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता कि जो सरकस आदि स्थानोंमें व्याघ्र, ऋच्छ आदि हिंसक जीव कठपुतलीकी तरह स्टेजपर नाचा करते हैं। यह केवल प्रयत्न और अभ्यासका ही फल है, अन्यथा संभव नहीं था। इसलिये यदि विहित उपायोंका अवलम्बनपूर्वक अभ्यास किया जायगा तो अवश्य यह चित्त स्थिर हो सकता है और अभ्यासकी परिपक्वावस्थामें निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति हो सकती है। हां इतनी बात तो अवश्य है कि मनुष्य एकही जन्म में समाधि–अवस्थापककी योग्यता हो जाय इतना अभ्यास प्रायः नहीं कर सकता। तभी तो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गीतामें कहा है कि–"अनेकजन्मससिद्ध-स्ततो याति परां गतिम्।" अनेक जन्मोंमें सिद्ध होनेपर मुक्ति प्राप्त होती है यानी निर्विकल्प समाधिकी उपलब्धि होती है।

चाहे कोई भी कार्य हो, यदि श्रद्धापूर्वक समुचित प्रयत्न न किया जायगा तो कभी भी कार्य–सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये विचारशील मनुष्यको उचित है कि निर्विकल्प समाधिकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्न करे।

इस समाधिको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नकी दो धाराएं होती हैं–एक तो अभ्यास और दूसरी विरक्ति। इस ग्रन्थमें चित्तके निरोधके लिये जो उपाय

(गीतिका छन्द)

हैं क्लेश पांच प्रकार:–पहला है 'अविद्या' नामका।
है दूसरा वह 'अस्मिता' जो हेतु है मति-वामका॥
है तीसरा वह 'राग' जिसका जन्म है सुखके लिये।
वह 'द्वेष' चौथा, जीवको, है दुःख देनेके लिये॥ १॥
फिर 'अभिनिवेश' कहा गया, जो मृत्यु-भयके त्राससे।
रहता डराता है सभी को, "देहके ही नाशसे"॥
इन पांच क्लेशों को हटाना, मनुजके पुरुषार्थ हैं।
इनको हटाकर ही विवेकी, साधते परमार्थ हैं॥ –'प्रेम,

बताये जायँगे उनका अभ्यास और विषयोंमे वैराग्य रखना; इन दो उपायोंसे चित्त निरोध-भावको प्राप्त होकर एकाग्र होजाता है तथा अपनी क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त अवस्थाओंको त्याग देता है। महर्षि पतञ्जलिजीने भी यही कहा है कि- "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।" अभ्यास और वैराग्यद्वारा चित्त (मन) का निरोध होता है। सांख्यकारको भी यही अभिमत है-"वैराग्यादभ्यासाच्च।" और श्रीकृष्णचन्द्रका भी अर्जुनके प्रति यही उपदेश है कि-"अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते॥" हे अर्जुन! अभ्यास तथा वैराग्य करके मनका निरोध करना चाहिये। चित्त-निरोधके लिये चित्त-निरोधके साधनोंको करना 'अभ्यास'[1] कहाता है। इस लोक और परलोकके विषयाभोगोंमें दोष-दृष्टि-पूर्वक उदासीन रहना 'वैराग्य' कहा है।

वैराग्यके दो भेद हैं-एक 'परवैराग्य' और दूसरा 'अपरवैराग्य'। पहलेमें तो गुणवैतृष्ण्य तथा दूसरेम विषयवैतृष्ण्य होता है। संप्रज्ञात समाधिके अभ्यास सें पुरुषप्रकृतिका ज्ञान होकर सुख, दुःख और मोक्षरूप परिणाम पानेवाले अन्तःकरणमें से सत्त्व-रज-तम गुणमें तृष्णारहित होना परवैराग्य कहाता है और इस लोक तथा परलोकके दिव्य, अदिव्य शब्दादि विषयोंमें तृष्णाका न होना अपर वैराग्य कहा जाता है। अपर वैराग्यके अवान्तर भेद और भी चार हैं:-१ यतमान, २ व्यतिरेक, ३ एकेन्द्रिय और ४ वशीकार।

(१) इस संसारमें सार, एवं असाररूप वस्तु कौन २ सी हैं? यह बात शास्त्र तथा सद्‌गुरुद्वारा जाननेके लिये मनमें जो इच्छा उत्पन्न होती है उसके अनुसार प्रयत्न करना 'यतमानवैराग्य' कहाता है। (२) इस यतमान वैराग्यके निरन्तर अभ्याससे साधकके चित्तमें जो काम, क्रोध आदि दोष स्थित रहते हैं वे इतनी मात्राम निवृत्त हुए और अभी इतनी मात्रामें अवशिष्ट हैं इस प्रकारका विवेक हो जानेपर शेषमात्राओंकी निवृत्तिके लिये अन्तःकरणकी स्थितिका नाम 'व्यतिरेकवैराग्य' है। (३) ऐहलौकिक और पारलौकिक विषयोंकी प्रवृत्तिका परिणाम फल दुःखस्वरूप ही है ऐसा जानकर बाहरसे विषय-प्रवृत्ति के त्यागने पर भी हृदयमें सूक्ष्मरूपसे विषयाभिलाषकी जो इच्छा रहती है उसे 'एकेन्द्रिय वैराग्य' कहते हैं। इसमें मान (प्रतिष्ठा) की तृष्णा भी अङ्कुररूपसे रहती है। और (४) लौकिक तथा पारलौकिक प्रतिष्ठा आदि सूक्ष्म विषयाभिलाषाओं की चित्तमेंसे निवृत्ति हो जाना 'शशीकारवैराज्य' कहाता है। इस वैराग्यकी

---

१ दोहा-"चित्त-निरोधताके लिये, यम-नियमादिक-योग।
करना ही 'अभ्यास' है, कहते हैं बुध लोग।" -'प्रेम'

प्राप्ति हो जाने पर साधक–,विषय मेरे अधीन हैं, मैं विषयोंके अधीन नहीं हूं' ऐसा समझने लग जाता है ।

परन्तु अभ्यास और वैराग्य दोनों साथ २ अनुष्ठित किये जायँगे तभी चित्त–निरोधरूप फल उत्पन्न हो सकेगा, क्योंकि जैसे–"आपोहिष्टा०" इत्यादि तीन ऋचाओंमेसे एक ऋचा आज, दूसरी कल, तीसरी परसों; इस तरह एक २ के उच्चारणसे यथाविधि मार्जन नहीं कहा जा सकता, किन्तु जब तीनोंका एक समय उच्चारण किया जायगा तभी वैदिक रीतिसे मार्जन कहा जायगा । अथवा जैसे आज जंघा पर्यन्त, कल कटि पर्यन्त, परसों कंठ पर्यन्त, एवं फिर अगले दिन केवल शिर; इस क्रमसे शरीर धोनेसे पूरा स्नान नहीं कहा जा सकता ऐसे ही अभ्यास और वैराग्य दोनों एक साथ न किये जायँगे तो चित्तनिरोधका साधन नहीं हो सकते ।

अथवा यों समझिये कि जैसे–समुद्रकी ओर बहती हुई नदीको रोककर जब सस्य (खेती) सींचनेके लिये जल ले जाना है तो एक दृढ़ (मजबूत) सेतु (पुल) बाँधनेकी आवश्वकता होती है और खेतोंतक जल पहुँचनेके लिये 'नहर' (ACANL) खोदना पड़ता है, ऐसे ही विषयरूप समुद्रकी ओर बहते हुए चित्त अथवा मनको रोकनेके लिये वैराग्यरूपी बाँध और नहररूपी अभ्यासके बलसे चित्त स्थिर होकर आत्मचिन्तनरूप खेतमें पहुँच जाता है ।

यदि कोई शंका करे कि 'अनिश्चित कालसे राजस और तामस वृत्तिवाले व्युत्थान संहकारसे कुण्ठित हुए चित्तको रोकनेके लिये अभ्यास नहीं हो सकता' तो ऐसी शंकाका उत्थान करते महामहिम श्रीपञ्जलिजी स्वयं लिखते हैं :–

"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः ।"

तप, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धारूप सत्कारसे दीर्घकालपर्यन्त सेवन करते करते अभ्यास दृढ़भूमिको प्राप्त हो जाता है । यही भगवती श्रुतिने भी बताया है कि –

"अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्य..."

तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा एवं विद्या द्वारा आत्माको अन्वेषण करके मुक्त होना चाहिये।

इस तरह वादीकी उस शंकाका उत्तर दे दिया गया जो 'चित्त अत्यन्त चञ्चल होनेके कारण निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती' यह कहा था । अब उसका उत्तर दिया जाता है जो वादीने जीवात्मा और परमात्माको परस्पर विरुद्ध बताकर दोनोंकी एकताका खण्डन किया है :–

जैसे रज्जुमें सर्प, सीपीमें रौप्य इत्यादि अज्ञानवश भासते हैं ऐसे ही वादी को जीवात्मा और परमात्मा पृथक् पृथक् दो वस्तु भास रही हैं । परन्तु वास्त-

विक बात यह नहीं है। इसके लिये यह एक ही दृष्टान्त कह देना पर्याप्त होगा कि जिस प्रकार घट, मठ आदि उपाधियों द्वारा अद्वितीय महाकाशमें घटाकाश एवं मठाकाश भेद प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार अन्तःकरणकी उपाधियों द्वारा जीवात्मा और परमात्माकी भिन्नता यानी अनेकरूपता तथा एकदेशीयता प्रतीत होती है, वास्तविक भिन्नता नहीं है। जैसे सूर्यकी किरण सूर्यसे भिन्न नहीं होती ऐसे ही परमात्मासे जीवात्मा भिन्न नहीं है। जैसे आकाशस्थ एक ही सूर्य अनेक घटों में अनेक भासता है, परन्तु जब घटको चारों ओरसे फोड़ दिया जाता है तो वही एक आकाशस्थ ही सूर्य शेष रहता है यानी घटगत सूर्य आकाशस्थ हो जाता है ऐसे ही अन्तःकरणकी उपाधियोंके अभाव होनेपर जीवात्मा भी परमात्मा में मिल जाता है। इसलिये इस ग्रन्थका विषय परम पुरुषार्थदायक होनेके कारण सर्वथा उपयुक्त एवं परम आदरणीय है।

शंका–यदि समस्त प्राणियोंमें एक ही चेतन है तो सभी को सुख, दुःख आदिकी प्रतीति समान होनी चाहिये, क्योंकि चेतनकी अवस्थामें ही सुखादिकों का भान होता है उसके अभावमें केवल शरीर रह जाने पर नहीं होता, इसलिये एक ही चेतनमें विविध प्रकारके धर्म नहीं होने चाहिये ?

समाधान–सुख अथवा दुःखकी प्रतीति होना अन्तःकरणका धर्म है और अन्तःकरण प्रत्येक शरीरमें भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। इसलिये एक प्राणीके सुख या दुःख होनेकी प्रतीति दूसरे प्राणीको नहीं होती। और 'चेतन एक ही है यह बात महाकाश तथा घटाकाशके दृष्टान्तसे निर्विवाद जाननी चाहिये।

प्रयोजनका निरूपण

निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति होकर दैहिक, दैविक और भौतिक दुःखों, की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति होना, एवं परमानन्दकी नित्यप्राप्ति होना इस ग्रन्थका 'प्रयोजन' है। यद्यपि त्रिविध दुःखोंकी निवृत्तिके लिये आयुर्वेद धनुर्वेद, नीतिशास्त्र और मंत्रशास्त्र आदि अनेक उपाय बताये गये हैं, परन्तु एक तो कर्म–बन्धनोंसे जकड़े हुए प्राणी उन समस्त उपायों को कर नहीं सकते, दूसरे कदाचित् कर भी सकें तो उनसे अवश्य ही और सदाके लिये दुःखों की निवृत्ति हो जाती हो ऐसा नियम नहीं है। कारण यह है कि जहांतक इस भौतिक शरीरका सम्बन्ध है वहां तक थोड़े जन्मोंके सुकर्मों द्वारा त्रिविध तापोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती हो यह सम्भव भी नहीं है। क्योंकि यह 'शरीर' पुण्य-तथा पापका फल है और पुण्य पापको दूर बहा देना साधारण पुरुषार्थका और एक जन्मका काम नहीं है। विना उक्त दोनोंके दूर हुए यदि कोई चाहे कि मैं संसारवन्धनसे छूट जाऊँ तो उसकी चाह केवल शश-श्रृंगके समान ही है। इसी-

लिये तो पण्डितराज महाकवि जगन्नाथजीने अपनी अन्तिम अवस्थामें चारों ओरसे निराश होकर व्यापक ब्रह्मसे संसार–बन्धन टूटने के लिये निम्नलिखित पत्र लिखकर प्रार्थना की है :—

पातकप्रचयवन्मम तावत्,
पुण्य-पुञ्जमपि नाथ ! लुनीहि ।
काञ्चनीमपि लौहमयीं वा,
श्रृंखलां प्रति पदे न विशेषः ॥ ६ ॥

हे नाथ ! (ब्रह्म !) जैसे आपकी इस सेवकके ऊपर ऐसी कृपादृष्टि हुई कि जिसके द्वारा अब यह अपनेको निष्पाप समझता है वैसेही यह भी होना चाहिये कि मुझमें जो कुछ पुण्यका अंश शेष हो वह भी दूर होजाय अथवा नष्ट हो जाय। क्योंकि भगवन् ! जब कि आप विना दोनोंके निवृत्त हुए इस जीवको ससारसे निवृत्त करते ही नहीं तो क्यों नहीं पापकी तरह इसे भी दूर भगा देते ? अर्थात् जवतक पुण्यका हिस्सा तनिक भी शेष रहेगा तो उसी तरह मैं बन्धनमें पड़ा रहूंगा जैसे स्वर्गस्थ प्राणी अपने सात्त्विक पुण्य-फलको हजम करके फिर द्वन्द्व-जनित संसार-बन्धनरूप फलको खानेके लिये विवश करके ढकेला जाता है। और वह फिर संसार में आकर छूटनेका मार्ग भूलकर बन्धनकी ओरही अधिकाधिक बढता जाता है। इस तरह यह जीव अनन्तकालतक पाप और पुण्यके प्रवाहमें पड़कर संसारसागरमें गोता खाता रहता है। आशययह कि जिस तरह शरीरकी कान्ति अथवा सुख देनेवाला सुवर्ण (सोना) होता है, पर वही सुवर्णयदि हथकडीके (Hand cuffs) रूपमें परिणत हो जाता है तो बांध उसी तरह रखता है जैसे लोहमय हथकडी बाँधे रहती है, इसी तरह लोहरूपी पाप और सुवर्णरूपी पुण्य दोनों समान बन्धनकारक हैं, इसलिये अब दोनोंको दूर हटाकर मुझे मोक्ष-दान दीजिये ॥ ६ ॥

इस कथनसे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि बिना पाप और पुण्य इन दोनोंकी निवृत्ति हुए मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। इसलिये यहांपर जिज्ञासु जनोंके हितार्थ पाप और पुण्यकी उत्पत्तिका दिग्दर्शन कराता हुआ संसारजन्य सुख अथवा सुखाभासका विवेचन लिखता हूं :—

पुण्य और पापकी उत्पत्ति राग–द्वेषसे होती है। पूर्वार्जित, एवं प्रस्तुत-शरीरसंपादित पुण्य–पाप–जनित फलोंके भोग चुकने पर भी रागद्वेषके कारण फिर दूसरे नये पुण्य अथवा पाप उपस्थित हो जाया करते हैं। इसलिये पाप और पुण्यके जनक 'राग-द्वेष' ही हैं। इन राग-द्वेषकी उत्पत्ति अनुकूल ज्ञान

और प्रतिकूल ज्ञानसे हुआ करती है। जिस वस्तुमें अनुकूलपनेका ज्ञान होता है उसमें 'राग' होता है एवं जिसमें प्रतिकूलपनेका ज्ञान होता है उसमें 'द्वेष' होता है। अनुकूल और प्रतिकूल पनेकी उत्पत्ति भेद ज्ञानसे होती है। क्योंकि अनुकूलपना और प्रतिकूलपना उसी वस्तुमें होती है जो अपने से भिन्न होती है। जैसे अपनी स्त्री अथवा अन्य जिस किसी पर अपना पूर्ण ममत्व होता है वह भोजन आदि कार्य करता है और असावधानी या अन्य किसी कारणवश त्रुटि हो जाती है तो उसपर अपनी प्रकृति एवं शक्तिके अनुसार क्रोधका वार करने लग जाता है, परन्तु जब स्वयं अपने हाथसे कुछ काम बिगड़ जाता है, तो क्रोध प्रकट करने की कौन कहे? यह माया–बन्धनमें जकड़ा हुआ प्राणी-तनिक भी अपने मनमें लज्जा या ग्लानि नहीं मानता कि यह कार्य मेरी मूर्खताके कारणे हुआ है। किन्तु उलटा यह सोचकर पूर्णतया शान्ति-भावको प्राप्त हो जाता है कि–"भूल अथवा असावधानी प्राणी-मात्रसे हुआ करती है इसलिये मुझसे भी हो गयी तो क्या हानि है?" मतलब यह है कि राग-द्वेषका प्रयोग उसी वस्तुमें किया जाता है जो अपनेसे भिन्न होती है, यह प्राकृतिक नियम है। इस भेद ज्ञानकी निवृत्ति तभी हो सकती है जब अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाय। और अपने स्वरूपका सच्चा ज्ञान तभी होता है जब सद्‌गुरु के बताये हुए योग मार्गकी ओर श्रद्धापूर्वक बढ़नेके लिये सतत प्रयत्न किया जाय।

जब यौगिक क्रियाओं द्वारा साधक समाधि अवस्थाको प्राप्त हो जाता है तो उसे ही वास्तविक सुखका भान यानी अक्षय और अनन्त सुखका लाभ होता है। यद्यपि जिस समय इन्द्रियां अपने अपने अभीष्ट विषयोंको ग्रहण करती हैं तो उस समय में भी सुखकी प्रतीति होती है, परन्तु वह सच्चा सुख नहीं है। किन्तु जब इन्द्रियोंको अपने विषयकी प्राप्ति होती है तो उस समय उतने परिमित कालके लिये अन्तःकरणकी वृत्तियाँ रुककर विषयाकार हो जाती हैं तो मनकी चंचलता दूर होकर एकाग्र हो जाती है और उसकी आत्मामें आनन्द-स्वभावका प्रतिबिब पड़नेसे आनन्दका अनुभव होने लग जाता है, पर उसे सुख न कहकर 'सुखाभास' कहना चाहिये। कारण यह है कि यदि वह वास्तविक सुख होता तो परिणामी (नष्ट) न होता,; क्योंकि जिसे आनन्द कहते हैं वह तो नित्य है। और वही ब्रह्म अथवा ब्रह्मानन्द कहाता है। इसीका दूसरा नाम सच्चिदानन्द भी है। इसी सच्चिदानन्दकी प्राप्ति होनेके लिये उपाय अथवा क्रियाएँ इस ग्रंथ द्वारा जानी जाती हैं। इसलिये इसके बनानेका प्रयोजन उप युक्त यानी परम पुरुषार्थ—दायक है।

यद्यपि योगके विषयमें पातञ्जलिगयो सूत्र, याज्ञवल्क्यसंहिता, शिव-

संहिता, योगवासिष्ठ, हठयोगप्रदीपिका और गोरक्षपद्धति आदि अनेक ग्रन्थ इस समय प्रस्तुत हैं, परन्तु एक तो उनका क्रम संदर्भ और प्रतिपादन शैली इस ढंगकी नहीं है कि सर्वसाधारण जन आसानीसे समझ जायँ और दूसरे उक्त ग्रन्थोंकी टीका टिप्पणियाँ भी ऐसी नहीं हैं कि उनके द्वारा थोड़े पढ़े लिखे मुमुक्षु जन सरलताके साथ पूर्णलाभ उठा सकें। इसलिये योगके विविध ग्रन्थोंका विचारपूर्वक अवलोकन करके उन्हींमेंसे उचित ढंग से मूलका संग्रह करके प्रचलित शुद्ध हिन्दी भाषामें अपनी बुद्धिके अनुसार टीका बनाकर सर्वसाधारण लोगोंके हितार्थ उपस्थित करना इस संग्रहका प्रयोजन सफल होगा ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।। ६ ।।

अधिकारी-निरूपण

दृष्टे तथाऽऽनुश्रविके विरक्तं विषये मनः।
यस्य तस्याधिकारोऽस्मिन्योगे नान्यस्यकस्यचित् ।। ७ ।।

दृष्ट विषय (सुगन्धित फूलों की माला, चंदन, स्त्री, पुत्र घर आदि) और आनुश्रविक विषम (स्वर्गीयसुख यानी नंदन वनमें विहार, अमृतपान तथा अप्सराओंके साथ क्रीड़ा आदि) में जिसका मन विरक्त है वही इस योग ग्रंथका अथवा योगसाधनका अधिकारी है, दूसरा नहीं।। ७ ।।

श्रीसुरेश्वराचार्यने भी विरक्तको ही अधिकारी वताया है :—

इहामुत्र विरक्तस्य संसारं प्रजिहासतः।
जिज्ञासोरेव कस्यापि योगेऽस्मिन्नधिकारिता ।। ८ ।।

इस लोक तथा परलोकके विषयोंमें विरक्त, जन्ममरणरूप संसारके निवृत्त होनेके लिये उत्तम उपाय चाहनेवाला और आत्मतत्त्व जाननेकी इच्छा रखनेवाला ही इस योगमें अधिकारीपनेका दावा कर सकता है, अन्य नहीं ।।८।।

सम्बन्धका निरूपण

योगरूप विषय और इस ग्रंथका प्रतिपाद्य-प्रतिपादकता सम्बन्ध है, अर्थात् प्रतिपादन करने योग्य जो योगका विषय है उसे यह ग्रन्थ प्रतिपादन करता है और योग तथा अधिकारीका प्राप्य-प्रापकता संबन्ध है। योगज्ञान और इस ग्रन्थका जन्य-जनकभाव संबंध है। एवं अधिकारी और योगरूप विषयका साधक-साध्यभाव संबंभ है। ऐसे ही इसके अन्य संबंध भी जानने चाहिये।।

योगका महत्त्व

आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि ।
सच योगश्चिरंकालमभ्यासादेव सिद्ध्यति ।। ९ ।।

यद्यपि आत्मज्ञानद्वारा मुक्ति पा जाना अटल सिद्धान्त है, परन्तु विना योगसाधन किये ही मोक्ष हो जाता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि योगके विना आत्मज्ञान होता ही नहीं। और वह योग चिरकाल पर्यन्त साधनसे सिद्ध होता है। इसीसे तो भगवान् कृष्णचंद्रने कहा है कि—"अनेकजन्मसंसिद्धस्तदा याति परां गतिम्।" योगसाधन करते २ अनेक जन्मोंमें कहीं जाकर मोक्षपद प्राप्त होता है॥ ९॥

योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम्।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ॥ १० ॥

योगरूप अग्निद्वारा समस्त पाप मूलसहित नष्ट हो जाते हैं और योगाग्निमें दग्ध होकर धौंके हूए हुए सुवर्णके समान निर्मल ज्ञान प्रकट हो आता है; जिसके प्रभावसे संसारबन्धन टूटकर मोक्ष मिल जाता है, गरुड पुराणमें व्यासदेवने इसे औषधरूपमें बताया है, जैसे—"भवतापेन तप्तानां व्यासदेवने इसे औषधरूपमें बताया है, जैसे—"भवतापेन तप्तानां योगोऽपि परमौषधम्।" संसारके त्रिविधतापोंसे तप्त हुए मनुष्योंके लिये योगसाधन एक अचूक औषध है॥ १०॥

योगकी प्रशंसामें दक्षस्मृतिकार दृष्टान्तपूर्वक उपमालंकारसे अलंकृत कर यों कहते हैं:—

स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा।
अयोगी नैव जानाति जात्यन्धो हि यथाघटम् ॥ ११ ॥

विना योगसाधनवाला मनुष्य उस ब्रह्मानन्दको इस प्रकार नहीं जान सकता जैसे कुमारी (बालिका) पुरुष-संसर्ग-जन्य सुखको नहीं जानती, एवं जैसे जन्मान्ध पुरुष नेत्रोंद्वारा घटको नहीं पहचान सकता॥ ११॥

योगिराज श्रीकृष्णचन्द्रने भी तो अर्जुनसे यही कहा है कि—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ १२ ॥

हे अर्जुन! तपस्वी, ज्ञानी और कर्मकाण्डियोंकी अपेक्षा योगी जन ही अधिक महत्त्ववाले होते हैं इसलिये तू योगी बन जा। इस कथनसे स्वर्गीय आदि सुखोंके देनेवाले अग्निष्टोम आदि कर्मकाण्डोंका योगद्वारा खण्डन इसलिये किया गया कि वे सुखचिरस्थायी नहीं होते, क्योंकि—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।" पुण्य क्षीण हो जानेपर फिर मृत्युलोकमें जन्म लेना पड़ता है और योगियोंको फिर संसार-सागरमें डूबनेका अवसर नहीं उपस्थित होता॥ १२

शंकरजी और पार्वतीजीके संवादरूपसे योगका महत्त्व योगबीजग्रंथमें इस प्रकार लिखा है कि :—

ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदन्ति ज्ञानिनः सदा ।
न कश्चित् सिद्धयोगेन योगः किं मोक्षदो भवेत् ।। १३ ।।

किसी समय पार्वतीने प्रश्न किया कि महाराज ! ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है ऐसा ज्ञानियोंका अटल सिद्धान्त है और श्रुति भी कहती है कि– ,,ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।'' विना ज्ञानके मोक्ष नहीं होता । हे प्रभो ! यदि ज्ञानसे ही मोक्ष होता है तो योग कैसे मोक्ष देनेवाला हो सकता है ? ।। १३ ।।

ईश्वर उवाच—

ज्ञानेनैव हि मोक्षं च तेषां वाक्यं तु नान्यथा ।
सर्वे वदन्ति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम् ।। ४ ।।
विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् ।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ।। १५ ।।
ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ! ।। १६ ।।

तब शंकरजीने कहा कि हे प्रिये ! ज्ञानसे मोक्ष होता है यह लोगोंका कहना सत्य है, परन्तु जैसे 'तलवारसे जय प्राप्त होती है' इस सर्वविदित जन-श्रुतिसे क्या यह समझ लेना चाहिये कि विना बाहुबल और युद्धके ही जयलक्ष्मी मिल जाती है ? नहीं नहीं, किन्तु इस कथनमें यह अर्थ अंतर्भूत रहता है कि, अपने बाहुबलसे परस्पर लड़ भिड़कर ही जयलक्ष्मी प्राप्त होती है । ऐसे ही योगरहित ज्ञानसे मोक्ष हो जाता है ऐसा नहीं कहा जा सकता इसलिये चाहे ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ, केवल जितेन्द्रिय अथवा देव ही–क्यों न हो, पर विना योगके मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता ।। १४–१६ ।।

यदि कहो कि योगाभ्यासके विना ही जनकादिकोंने अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्ति कर ली, अतः मोक्ष होनेमें योगाभ्यास कारण नहीं है ? तो यह कहना उचित नहीं क्योंकि—

जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः ।
क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो विशः ।। १७ ।।
धर्मवाधादयस्सप्त शूद्राः पैलवकादयः ।
मैत्रेयी सुलभा गार्गी शाण्डिली च तपस्विनी ।। १८ ।।

एते चान्ये च बहवो नीचयोनिगता अपि।
ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः ।। १९ ।।

जैगीषव्य और असित आदि ब्राह्मण, जनक आदि क्षत्रिय, तुलाधार आदि वैश्य, धर्मव्याध और पैलवक आदि शूद्र; एवं मैत्रेयी, सुलभा, गार्गी तथा तपस्विनी शाण्डिली आदि स्त्रियाँ; इसी प्रकार दूसरे और भी नीच योनिमें जन्म लेकर योगके विना केवल—ज्ञान द्वारा ही मुक्त हुए हैं, परन्तु उन सबोंने पूर्वार्जित योगाभ्यासके बलसे ही ज्ञाननिष्ठ होकर मुक्ति प्राप्त की है, अन्यथा सम्भव न थी ।। १७–१९ ।।

उपरोक्त कथनसे यह भी सिद्ध हो गया कि योगसाधनमें मनुष्यमात्रको अधिकार है, तभी तो :—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम्।
शान्तये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ।। २० ।।

महर्षि मतंगजी कहते हैं कि शुभ और अशुभ कर्मोंके दूर करनेके लिये यानी संसार–बंधनसे छूटनेके लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्रियोंको— योग ही एक साधन है, क्योंकि इसके सिवा दूसरे और साधन ऐसे नहीं हैं जो परम शान्तिवाले सच्चे सुखकी प्राप्ति करा दें यानी मुक्त कर दें ।। २० ।

योगसाधनमें अवस्थाकी उपेक्षा

युवावृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ।। २१ ।।

चाहे, युवा, बुड्ढा, अत्यन्त बुड्ढा, रोगी अथवा निर्बल ही क्यों न हो परन्तु यदि समस्त योगके नियमोंको ध्यानमें रखकर अभ्यास करे तो (अवश्य) सिद्धि प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि योगाभ्यासके लिये अवस्थाका कोई नियम नहीं है, किन्तु सावधानी और श्रद्धाकी आवश्यकता अवश्य है ।। २१ ।।

योग सीखनेमें गुरुकी आवश्यकता

प्रशान्तचित्तस्य जितेन्द्रियस्य
गुणान्वितस्याऽऽगुरुसेविनश्च ।
नूनं भवेद्योगसमस्तसिद्धि—
र्नान्येतरासक्तजनस्य कस्य ।। २२ ।।

योगरहस्यमें लिखा है कि—जो प्रशान्त चित्त, जितेन्द्रिय, गुणी, एवं अच्छे प्रकार गुरुकी सेवा करनेवाला होता है उसीको योग–सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, अन्यविषयासक्तोंको नहीं। इस श्लोकमें "गुणान्वितस्याऽऽगुरु-

सेविनश्च'' जो 'आ' (समन्तात्) शब्द रखा है उसका आशय यह कि विना अच्छीतरह सद्गुरुकी सेवा किये योगसाधन नहीं हो सकता। ऐसा ही मुण्डकोपनिषद्में भी लिखा है--"तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।'' गुरुके उपयोगमें आनेवाली वस्तु समिध हाथमें लेकर नम्रतापूर्वक विशेष ज्ञानके लिये (परमपदके प्राप्त्यर्थ) वेद---शास्त्र संपन्न ब्रह्मनिष्ठ (तपस्वी) दयालु गुरुकी शरणमें जाना चाहिये। क्योंकि सद्गुरुकी प्रसन्नतासे ही आत्मदर्शनका लाभ होता है। इस पर महात्मा कपिल देवजीने कहा है कि-"अनेकजन्मसंस्कारात् सद्गुरुः सेव्यते बुधः। संतुष्टः श्रीगुरुर्देव आत्मरूपं प्रदर्शयेत्॥'' यदि अनेक जन्मोंका पुण्य-फल उदय हो तभी उन सच्चे गुरुओंके सेवन करने का सौभाग्य प्राप्त होता है-जो प्रसन्न होनेपर आत्मरूपका साक्षात्कार करा देते हैं॥ २२॥

गुरुसे योग और योगसे सिद्धि

गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टाङ्गसंयुतम्।
शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिं च शाश्वतीम्॥ २३॥

प्रथम गुरुकी कृपासे अष्टाङ्गयोग प्राप्त होता है, फिर शिवजीकी कृपासे अविनाशी योग-सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। श्रुतिने भी कहा है कि "आचार्यवान्पुरुषो वेद।'' आत्म तत्त्वको वही पुरुष जान सकता है जो आचार्य (गुरु) वाला होता है॥ २३॥

योगसाधनमें सहायक

उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात्।
जनसंगपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति॥ २४॥

मनमें उत्साह, साहस, धीरता, तत्त्वज्ञान अर्थात् योगसाधनसे मोक्ष पदकी प्राप्ति होगी ऐसी भावना, निश्चय (दृढ प्रतिज्ञा) और विषयी लोगोंकी संगतिका त्याग; ये छः योगसाधनमें सिद्धता देनेवाले सहायक हैं॥ २४॥

योगाभ्यासके शत्रु

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः।
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति॥ २५॥

१ अधिक भोजन, २ अधिक परिश्रम, ३ बहुत बोलना, ४ नियमग्रह अर्थात् ठंढे जलसे प्रातःकाल स्नान, एवं रात्रिमें ही भोजन आदिका नियम, ५ मनुष्योंका संसर्ग, और ६ मनकी चंचलता; ये छः योगाभ्यासके विनाशक हैं, इनसे साधकको सदा सावधान रहना चाहिये। और "वह्निस्त्रीपथिसेवा-

नामादौ वर्जनमाचरेत् ।'' अग्निसेवन (सेंकना), स्त्रियोंका सहवास (एकान्त स्थानमें संभाषण आदि) और मार्गका चलना, ;इन्हे सर्वथा त्याग करना चाहिये ।। २५ ।।

त्यागके विना योगसाधन चाहनेवाले मनुष्योंको शास्त्रकारोंने 'अबुध' कहकर संबोधित किया है :—

मातुरङ्कगतो बालो ग्रहीतुं चन्द्रमिच्छति ।
यथा योगं तथा योगी संत्यागेन विनाऽबुधः ।। २६ ।।

मूर्ख लोग बिना त्याग किये ही योगसाधनकी इच्छा इस प्रकार करते हैं कि जैसे माताकी गोदमें बैठा हुआ अज्ञ बालक चन्द्रमाको पकडना चाहता है । अर्थात् जैसे आकाशस्थ चन्द्रमाका ग्रहण बालकके लिये निरा असम्भव है ऐसे ही जनसंगके त्यागविना योग साधन भी असम्भव है । यही स्कन्दपुराण में भी लिखा है कि—"संगी ही बाध्यते लोके निस्संग:सुखमश्नुते । तेन संगः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ।।'' इस लोकमें संगवाला पुरुष निश्चय ही दुःख पाता है और निस्संग रहने पर सुख मिलता है, इसलिये सुखकी इच्छा करनेवालेको चाहिये कि जनसंगका परित्याग करे ।। २६ ।।

योगाभ्यास करनेवालेको निम्नलिखित बातोंपर भी ध्यान देना आवश्यक है :—

नातितृप्तः क्षुधार्तो वा न विण्मूत्रादिबाधितः ।
नाध्वखिन्नो नचिन्तार्तो योगं युञ्जीतयोगवित् ।। २७ ।।

अति तृप्त अवस्थामें, क्षुधार्त अवस्थामें, मलमूत्रकी उत्सुकतामें और-मार्ग चलनेके कारण खिन्न अवस्थामें, और चिन्ताग्रस्त अवस्थामें चित्तको योगमें नहीं जोड़ना चाहिये ।। २७ ।।

योगाभ्यास करनेमें बाधाएँ

आलस्यं प्रथमं विघ्न उपभोगो द्वितीयकः ।
कीर्तिस्तृतीयकः प्रोक्त औदासीन्यं चतुर्थकः ।। २८ ।।
विघ्नाश्चत्वार एवं हि प्राप्नुवन्ति पुनः पुनः ।
तस्मात्प्रबलधैर्येण योगी विघ्नान्निवारयेत् ।। २९ ।।

योगाभ्यास करनेमें मुख्यचार बाधाएँ हुआ करती हैं, जैसे—१ आलस्य २ विषयोपभोग, ३ कीर्ति (बड़ाई) और ४ उदासीनता, इसलिये साधकोंको चाहिये कि इन चार विघ्नोंको धैर्यपूर्वक प्रबल प्रयत्नों द्वारा दूर हटा दें ।।२८–२९।

योगाभ्यासके लिये देश और स्थान

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
धनुःप्रमाणपर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते ।।
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ।। ३० ।।

जिस देशका राजा सात्त्विक विचारवाला, एवं शुद्ध आचरणवाला हो और जिस देशके मनुष्य धार्मिक हों, जहाँ चोर, व्याघ्र, सर्प आदिका उपद्रव न हो ऐसे देशमें साधकको चाहिये कि विधिपूर्वक मठ बनाकर निवास करे और अपने आसनसे चार २ हाथपर्यन्त मठके चारों ओर पत्थर अग्नि और जल न रहने पाये। क्योंकि इनसे वात, पित्त, और कफकी विषमता बढ़कर शरीरमें अनेक व्याधियां उत्पन्न हो जाया करती हैं ।। ३० ।।

योगाभ्यासके लिये मठ

अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं
सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तममलं निश्शेषजन्तूज्झितम् ।
बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकार---संवेष्टितं
प्रोक्तं योगमठस्यलक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ।। ३१ ।।

—हठयोग.

जिसका द्वार छोटा हो, एवं जिसमें गवाक्षादि छिद्र गड्ढे और बिल न हों; अधिक ऊँचा तथा नीचा न हो, जिसके बाहर उचित स्थानमें मंडप, वेदिका और कूप या बावड़ी स्वच्छ बनी हों; गौके गोबरसे अच्छे प्रकार लीपा हुआ पवित्र तथा मच्छड़ आदि जहरीले जन्तुओंसे रहित, एवं जिसके चारों तरफ प्राकार (चहार-दिवाल) शोभायमान हो ऐसा मठका लक्षण हठयोगके अभ्यास करनेवाले महात्माओंने बताया है ।। ३१ ।।

योगाभ्यासमें कालनिर्णय

वसन्ते वापि शरदि योगारम्भं समाचरेत् ।
तदा योगो भवेत्सिद्धो विनायासेन कथ्यते ।। ३२ ।।

वसन्त अथवा शरद ऋतुमें योगाभ्यासका आरम्भ करनेसे निर्विघ्नताके साथ सिद्धता प्राप्त हो जाती है, इसलिये इन दो ऋतुओंमेंसे किसी एकमें योगारम्भ करना चाहिये ।। ३२ ।।

हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौ तथा ।
योगारम्भं न कुर्वीत कृतो योगो हि रोगदः ।। ३३ ।।

हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा [1]ऋतुमें योगाभ्यासका आरम्भ नहीं करना चाहिये, क्योंकि इन ऋतुओंमें आरम्भ करनेसे योगसिद्धि न होकर रोग-सिद्धि हो जाती है। उपरोक्त दोनों श्लोक घेरण्डसंहिताके हैं ।। ३३ ।।

योगाभ्यासमें योग्य भोजन

शाल्यन्नं यवपिण्डं वा गोधूमपिण्डकं तथा।
मुद्गं माषं चणकादि शुभ्रं च तुषवर्जितम् ।। ३४ ।।

अन्न—घेरण्डसंहिताकारने लिखा है कि जो कोई योगाभ्यास करना चाहे उसे शालि(चावल), यव और गेहूँ, मूंग, उड़द, अथवा चनेको विधिपूर्वक स्वच्छताके साथ बनाकर स्वल्प भोजन करना चाहिये ।। ३४ ।।

पटोलं पनसं मानं कंकोलं च सुकाशकम् ।
द्राढिका कर्कटीरम्भोदुम्बरीकंटकंटकम् ।। ३५ ।।

शाक —परवल, कटहर, कंकोल, करेला, अरबी, कांकड़ी, केला, गूलर और चौलाईका शाक योगाभ्यासियोंको खाना चाहिये। भोजनके विषयमें विशेष जानना हो तो घेरण्डसंहिताका अवलोकन करना चाहिये ।। ३५ ।।

योगाभ्यासमें घी-दूधकी आवश्यकता

अभ्यासकाले प्रथमे शस्त्रं क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ नियमग्रहः ।। ३६ ।।

अभ्यासके आरम्भकालमें साधकको घी और दूधका सेवन विशेष रूपसे करना चाहिये, क्योंकि विना घी दूधके प्राणायामादि क्रियाओंमें कठिनता हो जाती है, परन्तु पूर्णतया अभ्यास हो जानेपर यह नियम नहीं है। सारांश यह कि किसी भी धर्मात्माके यहाँसे उक्त अन्नोंमेंसे किसी सात्त्विक अन्नको लेकर पवित्रतापूर्वक बनाकर घी दूधकी अधिकताके साथ परिमित मात्रामें भोजन करे ।। ३६ ।।

योगाभ्यासमें निषिद्ध भोजन

अम्लं रूक्षं तथा तीक्ष्णं लवणं सार्षपं कटु ।। ३७ ।।

---

१ ऋतुका निर्णय—"मृगादिराशिद्वयभानुभोगात्, षट्चर्तवःस्युः शिशिरो वसन्तः। ग्रीष्मश्च वर्षा च शरत्तथैव हेमन्तनामा कथितश्च षष्ठः ।।" जब मकर और कुम्भराशिपर सूर्य आते हैं तो शिशिर, मीन तथा मेषमें वसन्त, वृष और मिथुनमें ग्रीष्म, कर्क तथा सिंहमें वर्षा, कन्या और तुलामें शरद्, एवं वृश्चिक तथा धनुमें हेमन्त ऋतु कहाती है। इस विषय में किसी-किसी आचार्यका मतभेद भी है, परन्तु जहां जिसका जैसा मन्तव्य हो वहां उसको वैसा ही मानना चाहिये।

खट्टा— (इमली आदि), रुखा, तीक्ष्ण (मिर्च आदि), नमक, सरसोंका तेल आदि और कड़ुआ, इन पदार्थों का सेवन साधक को नहीं करना चाहिये ॥ ३७ ॥

भोजनादिका समय

अनिलेऽर्कप्रवेशे च भोक्तव्यं योगिभिः सदा ।
वायौ प्रविष्टे शशिनि शयीत साधकोत्तमः ॥ ३८ ॥

उत्तम साधकको दाहिने स्वरके चलते हुए भोजन और बायां स्वर चलने पर शयन करना चाहिये । यह शिवसंहिताका वचन है ॥ ३८ ॥

योगसिद्धिमें कारण

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं नच तत्कथा ।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥ ३९ ॥
क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।
न शास्त्रपठनादेव योगसिद्धिः प्रजायते ॥ ४० ॥

योगसिद्धि होनेमें न तो योगियोंका सा वेष धारण कर लेना कारण है और न योगविषयक ग्रन्थोंका पढ़ लेना ही कारण है; किन्तु योगकी विहित क्रियाओंका करना मुख्य कारण है। इसलिये गुरु और शास्त्रों द्वारा विधिको समझकर क्रियात्मक कार्य करना चाहिये । आशय यह है कि जैसे–विद्यार्थी गुरुमुखसे शब्द सुनकर पुनः उसे मनन, चिन्तन न करे तो वह भूल जाता है और सुनना निरर्थक हो जाता है वैसे ही यदि समस्त योगविषयक ज्ञान सद्गुरु या शास्त्रद्वारा सीखकर फिर उसके आशय के अनुसार मनुष्य क्रियात्मक कार्य न करे तो योगसिद्धियाँ नहीं प्राप्त हो सकतीं, इसलिये योग विषयका अध्ययन व्यर्थ हो जाता है ॥ ३९–४० ॥

योगके चार भेद

मन्त्रयोगो लयश्चापि राजयोगस्तथैव च ।
हठयोगोऽपि वै तत्र चतुर्धा संप्रकीर्तितः ॥ ४१ ॥

मंत्रयोग, लययोग, राजयोग और हठयोग, इन भेदोंसे योग चार प्रकारका होता है ॥ ४१ ॥

इस ग्रन्थमें हठ योग प्रधान रूपसे है और शेष तीनोंका वर्णन संक्षेप यथाक्रम निम्नलिखिद है :—

मंत्रयोगका निरूपण

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंसहंसेति मन्त्रोऽयं जीवो जपति सर्वदा ॥ ४२ ॥

गुरुवाक्यात्सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जपः ।
सोऽहं सोऽहमितिप्राप्तो मंत्रयोगः स उच्चते ।। ४३ ।।

योगबीजमें मंत्रयोगका लक्षण इस प्रकार लिखा है कि शरीरके अन्दरसे जो वायु बाहरको निकलती है वह हकारके साथ और जो भीतर प्रविष्ट होती है वह सकारके साथ । इस तरह यह जीव सदैव 'हं सः' इस मंत्रका जप करता रहता है । परन्तु जब सद्गुरुकी कृपा एवं अपने अभ्यास द्वारा प्राण और अपान वायु परस्पर मिलकर सुषुम्णा (वक्ष्यमाण) नाडीमें प्रविष्ट होती है तो "हं सः" ये दोनों अक्षर उलटकर 'सोऽहं' के रूपमें परिणत हो जाते हैं, यही 'मंत्रयोग' कहता है ।। ४२–४३ ।।

समस्त मनुष्य आरोग्यावस्थामें चौबीस घंटेके अन्दर २१६०० 'हं सः' मंत्रका स्वभावसे ही उच्चारण करता रहता है । यह बात योगिराज ईश्वरने मी कही है, जैसे :—

एकविंशतिसाहस्रं षट्शताधिकमीश्वरि ।
प्रत्यहं जपते प्राणी हंस इत्यक्षरद्वयम् ।। ४४ ।।

—योगबीज

हे ईश्वरि ! यह प्राणी प्रतिदिन यानी प्रत्येक रात दिनमें २१६०० वार 'ह सः' इन दो अक्षरोंको जपता रहता है ।। ४४ ।।

साधकको उक्त दो अक्षरोंको उलट कर 'सोऽहं मंत्र बनाकर कुण्डलिनीके उत्थानकी भावना कर मूलाधारमें वृत्ति द्वारा पहुँचकर गणेशजीका पूजन करना चाहिये और रात दिनके मंत्रोंमेंसे ६०० अजपामंत्र अर्पण करना चाहिये । इसका विवेचन गरुडपुराणम यों लिखा है :—

आधारं तु चतुर्दलानलसमं वासान्तवर्णाश्रयं,
स्वाधिष्ठानमपि प्रभाकरसमं बालान्तषट्पत्रकम् ।
रक्ताभं मणिपूरकं दश दलं डाद्यं फकारान्तकं,
पत्रैर्द्वादशभिस्त्वनाहतपुरं हैमंकठान्तावृतम् ।। ४५ ।।
पत्रैः सस्वरषोडशैः शशधरज्योतिर्विशुद्धाम्बुजम्,
हंसेत्यक्षरयुग्मकं द्वय-दलं रक्ताभमात्राम्बुजम्, ।
तस्मादूर्ध्वगतं प्रभासितमदः पद्मं सहस्रच्छदम्,
सत्यानन्दमयं विभूतिविलसज्ज्योतिर्मयं शाश्वतम् ।। ४६ ।।
गणेशं च विधिं विष्णुं शिवं जीवं गुरुं ततः ।
व्यापकं च परं ब्रह्म क्रमाच्चक्रेषु चिन्तयेत् ।। ४७ ।।

षट्शतं गणनाथाय षट्सहस्रं तु वेधसे।
षट्सहस्रं च हरये षट्सहस्रं हराय च॥ ४८॥
जीवात्मने सहस्रं च सहस्रं गुरवे तथा।
चिदात्मने सहस्रं च जपसंख्या निवेदयेत्॥ ४९॥

आधारचक्र--(१) गुदास्थानमें वकारसे लेकर सकारपर्यन्त यानी वं, शं, षं, सं, इन चार अक्षरोंसे युक्त, अग्निके समान देदीप्यमान चार-दलवाला त्रिकोणाकार पहला चक्र है। इसके अधिष्ठाता 'ब्रह्मा' हैं।

स्वाधिष्ठान चक्र---(२) लिङ्ग (योनि) के मूलमें बं, भं, मं, यं, रं, लं, इन छः अक्षरोंके साथ सूर्यके समान प्रकाशित प्रवालके अंकुरकी तरह छः दलवाला दूसरा चक्र है। इसके अधिदेव 'विष्णु' हैं।

मणिपूरक---(३) नाभिस्थानमें डकारसे लेकर फकार तक अर्थात् डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं, इन अक्षरों सहित लालवर्णके कमलकी तरह बारह दलवाला तीसरा चक्र है। इसके अधिनायक 'विष्णु' हैं।

अनाहतचक्र---(४) हृदयप्रदेशमें ककारसे ठकार पर्यन्त यानी कं, खं, गं, घं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं, इन वर्णोंसे युक्त सुवर्णके समान कान्तिधारी बारह दलवाला वर्तुलाकार चौथा चक्र है। इसके अधिष्ठाता 'शंकर' हैं।

विशुद्धचक्र--(५) कंठस्थानमें अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, ऌं, ॡं एं ऐं, ओं, औं, अं, अः इन सोलह अक्षरों सहित चंद्रमा सदृश कांतिमान सोलह दलवाला वर्तुलाकार पाचवाँ चक्र है। जिसके अधिनायक 'रुद्र' हैं।

आज्ञाचक्र—(६) दोनों भ्रुकुटियोंके मध्यभागमें हं और क्षं, इन दो अक्षरों से युक्त लाल कमलके समान कान्तिधारी, कुछ लंबा और गोल दो दलवाला छठा चक्र है। इसके अधिष्ठाता 'महेश्वर' हैं। इन्हीं चक्रोंकी 'षट्-चक्र' संज्ञा है।

इनके ऊपर शुद्धस्फटिकमणिके समान देदीप्यमान कमलके समान वर्तुलाकार हजार दलवाला सातवां 'अजरामर' अथवा 'ब्रह्माण्ड' चक्र है। इसके अधिदेव 'श्रीगुरु' हैं। इन चक्रोंमें यथाक्रम चक्रके अधिनायकोंका ध्यान धरकर २१६०० जपमें से ६०० गणेशको, ६००० ब्रह्माको, ६००० विष्णुके लिये, ६००० शंकरको, १००० जीवात्माको, १००० गुरुके लिये और १००० चिदात्माके लिये प्रतिदिन अर्पण करना चाहिये॥ ४५-४९॥

लययोगका निरूपण

उपरोक्त रीतिसे प्रतिदिन जपसंख्या अर्पण करते करते कुछ दिनमें ब्रह्मचर्य आदिं साधन-संपन्न साधककी जपसंख्या एक करोड़ तक पहुँच जाती है।

उस अवस्थामें साधकको यथाक्रम दश प्रकारके नादोंकी प्रतीति होने लगती है। हंसोपनिषद्में भी यही लिखा है कि—"स एव जपकोटचानादमनुभवति।" यम–नियमवाले साधककी जपसंख्या जब एक करोड़ पर्यन्त होने लगती है तो वह साधक नादका अनुभव करने लग जाता है।

दशप्रकारके नाद—मेंसे सर्वप्रथम (१) तम्बूराकासा शब्द सुनायी पड़ता है, फिर (२) चिंचिणी, (३) घंटा, (४) शंख, (५) वीणा, (६) ताल, (७) वंशी, (८) मृदंगा, (९) भेरी और (१०) मेघगर्जनाके समान शब्द यथाक्रम सुननेमें आते हैं। अभ्यास करते करते जब मेघनादके शब्दका अनुभव होने लगता है तो उसी नादके अंदर विराजमान प्रकाशस्वरूप ब्रह्मका साक्षात्कार होता है।

नादकी अवस्थाएं

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ।। ५० ।।

जैसे हठयोग आदिकी अवस्थाएँ हुआ करती हैं वैसे ही इस नादकी भी चार अवस्थाएँ होती हैं। जैसे—१ आरम्भावस्था, २ घटावस्था, ३ परिचयावास्था और ४ निश्पत्त्यवस्था। नादकी आरम्भावस्थामें हृदयमें रहनेवाली ब्रह्मग्रन्थिके भेदन करनेकी योग्यता प्राप्त होती है। घटावस्थामें कण्ठगत विष्णुग्रन्थिके भेदनकी शक्ति होती है। और परिचयावस्थामें भ्रुकुटिगत रुद्रग्रन्थिके भेदन करनेवाली शक्ति प्राप्त होती है। एवं निष्पत्त्यवस्थामें सब ग्रन्थियोंको भेद कर ब्रह्मरन्ध्रमें जाकर नादकी स्थिरता होती है और वहीं उस नादके मध्य ज्योतिस्वरूप परब्रह्मका और प्राणवायुका यानी जीवात्म का साक्षात्कार होता है।

नादानुसन्धान करनेके लिये वक्ष्यमाण षण्मुखीमुद्रा लगानी चाहिये। यानी षण्मुखी मुद्रा लगाकर चित्तको स्थिर कर नादका अनुभव करना चाहिये। अभ्यास करते करते जब नादकी अन्तिम अवस्था प्राप्त हो जाय तब उसी नादके अन्दर मनको विलीन करके ब्रह्मानन्दका अनुभव करता रहे। इस अन्तिम नादके मध्य जिस साधकका मन विलीन हो जाता है वह उसी तरह अन्य लौकिक शब्दादि विषयोंकी इच्छा नहीं करता, जैसे भ्रमर पुष्प-रसके सिवाय दूसरे रस आदि विषयोंकी अपेक्षा नहीं करता। इस नादमें विलीन होकर मन अपनी चाञ्चल्य वृत्तियोंको त्यागकर इस प्रकार स्थिर होकर बैठा रहता है जैसे पंख कट जाने पर पक्षी एक ही स्थानपर–पड़ा रहता है। इसी नादमें मनके लीन हो जानेका नाम 'लय-योग' है। यह विषयरूप जंगलमें मदमस्त होकर

विचरने वालेमनको अपने वशमें उसीप्रकार रखे रहता है जिस प्रकार लोहका अंकुश मतवाले हाथीको ववसमें किये रहता है। इसलिये यह लययोग मोक्ष देनेवाला है।। ५०।।

श्री–आदि नाथेन सपादकोटि,—

लयप्रकाराः कथिता जयन्ति।

नादानुसन्धानकमेकमेव

मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम्।। ५१।।

गोरखनाथजी कहते हैं कि यद्यपि श्रीशंकरजी लययोगका प्रकार सवा करोड़ बताते हैं 'पर हमलोग तो लययोग सिद्ध होनेके लिये एक नादानुसन्धानको ही मुख्य मानते हैं।। ५१।।

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम्?

अपुनर्वासिनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः।। ५२।।

–हठयोगप्रदीपिका.

लययोगकी सिद्धावस्थामें शब्द आदि विषयोंकी विस्मृति हो जाती है और मनकी सारी वृत्तियोंका अभाव होजाता है यही 'लय–योग' का लक्षण है।। ५०।।

राजयोगका निरूपण

चित्तकी अनात्माकार वृत्तियोंके निरोधका नाम 'राजयोग' है। इसका लक्षण श्रीपतञ्जलि जी महाराजने इनशब्दों में लिखा है:—

योगश्चित्तवृत्ति–निरोधः। योग. १ पा. २ सू.।।

चित्तकी पाँच प्रकारकी वृत्तियोंका निरोध होना 'राजयोग' कहाता है। यह योग दो प्रकारका है—एक संप्रज्ञात और दूसरा असंप्रज्ञात। चित्तकी एकाग्र अवस्थामें जो योग होता है वह 'संप्रज्ञात' योग कहाता है और चित्तकी निरुद्धावस्थामें होनेवाला योग असंप्रज्ञात' कहाता है।

चित्तकी अवस्थाएँ—पाँच हैं। जैसे १ क्षिप्त, २ मूढ़ ३ विक्षिप्त, ४ एकाग्र और ५ निरुद्ध। (१) जिस अवस्थामें चित्तकी वृत्तियाँ विविध संसारी विषयोंमें भ्रमण किया करती हैं वही 'क्षिप्तावस्था' कही जाती है। (२) जिसमें निद्रा, आलस्य आदि कारणोंसे चित्तमें कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान न रहे उसे 'मूढावस्था' कहते हैं। (३) जिसमें चित्तकी वृत्तियाँ किसी समय तो सत्कर्म योगमें लगी रहें और फिर कुछ देरमें उचटकर दूसरे विषयमें लग जाया करें तो वही 'विक्षिप्तावस्था' कही जाती है। (४) जबचित्तकी

वृत्तियाँ सारे विषयोंसे हटकर किसी एक विहित लक्ष्यमें लग जाती हैं तो उसे 'एकाग्रावस्था' कहते हैं। और (५) जब समस्त चित्त-वृत्तियाँ बाह्य एवं आभ्यन्तरके सभी विषयोंमें चेष्टा रहित होकर स्थिर हो जाया करें उसे 'निरुद्धावस्था' कहते हैं। पहलेकी चार अवस्थाओंमें सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणका यथोचित संसर्ग रहता है और पांचवीं अवस्थामें इन गुणोंका केवल संस्कारमात्र यानी सूक्ष्म रूप ही शेष रह जाता है। जब इन पांचों प्रकारकी वृत्तियोंसे रहित होकर, चित्त आत्माकार हो जाया करे तो उसे ही 'राज-योग' अथवा 'निर्विकल्प-समाधि' कहते हैं।

हठयोगका निरूपण

हठयोगप्रदीपिकाके रचयिता श्रीस्वात्मारामजी लिखते हैं कि—"केवलं राजरोगाय हठविद्योपदिश्यते।" विना हठयोगके राजयोगकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये हठयोगका उपदेश किया जाता है। इस अपनी बातकी पुष्टिमें आप उदाहरण देते हैं:—

श्री—आदिनाथमत्स्येन्द्र–शाबरानन्दभैरवा: ।।
चौरङ्गीमीनगोरक्ष–विरूपाक्षबिलेशया: ।। ५३ ।।

यह हठयोगका ही प्रभाव है जो श्रीआदिनाथ (शिवजी) [1]मत्स्येन्द्र, शावर, आनन्दभैरव, चौरंगी, मीननाथ, गोरक्ष (गोरखनाथ), विरूपाक्ष और विलेशय संसारमें जीवन्मुक्त होकर सर्वदा विराजमान रहते हैं।। ५३ ।।

मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धिश्च कंथडि: ।
कोरण्टक: सुरानन्द: सिद्धिपादश्च चर्पटि: ।। ५४ ।।
कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जन: ।
कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वय: ।। ५५ ।।
अल्लाम: प्रभुदेवश्च घोडाचोली च टिंटिणि: ।
भानुकी नारदेवश्च खण्ड: कापालिकस्तथा ।। ५६ ।।

---

१ इन महात्माके विषयमें ऐसी किंवदन्ती है कि किसी समय श्रीशंकरजी निर्जन स्थानमें किसी एक जलाशयके निकट बैठकर जगन्माता पार्वतीजीको योगका उपदेश करते थे और उस जलाशयके किनारे जलमें बैठा हुआ कोई मत्स्य योगोपदेश सुन रहा था। उस योगमंत्रके सुननेमें उसका मन इस प्रकार एकाग्र होगया था कि वह समाधिस्थ योगीकी तरह स्थिर-काय होकर बैठा था। उसकी ऐसी दशा देखकर कृपालु श्रीशंकरजीने उसके शरीर पर जलका सिंचन अपने कर-कमलों द्वारा किया। उसी जल सिंचनसे वह मत्स्य सिद्ध होकर 'मत्सेन्द्र-नाथ' नामक योगिराज हुआ है।

इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ।
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरंति हि ॥ ५७ ॥

मंथान, भैरव, योगी, सिद्धि, बुद्धि, कंथडि, कोरंटक, सुरानन्ह, सिद्धिपाद, और भी—
चर्पटि, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथनिरंजन, कपाली, बिन्दुनाथ, काकचंडी-श्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडाचोली, टिंटिणि, भानुकी, नारदेव, खण्ड, कापालिक और तारानाथ आदि महात्मा इसी हठयोगके प्रभावसे कालदंडका खंडन करके निखिल ब्रह्माण्डमें निर्द्वन्द्वता पूर्वक, विचरते रहते हैं ॥ ५४–५७ ॥

इसलिये—

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥ ५८ ॥

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तापोंसे तपे हुए मनुष्योंको सुखसे रहनेके लिये यह हठयोग उत्तम घर है। अर्थात् व्याघ्र, एवं सर्प आदिसे उत्पन्न हुए दुःखको 'आधिभौतिक' कहते हैं तथा सूर्य आदि ग्रहोंसे उत्पन्न हुए दुःखको ,आधिदैविक' और विविध व्याधियोंसे शारीरिक, एवं काम, क्रोध आदिकों से होनेवाले मानसिक दुःखोंका नाम "आध्यात्मिक" है। इन त्रिविध तापोंसे तप्तोंको हठयोग इस प्रकार सुखदायी है—जैसे कठोर धर्म (ऊष्मा) से तप्त हुए प्राणियोंको शीतल छायावाला सुन्दर घर। और जैसे निखिल विश्वका आधार कमठ (कूर्म) भगवान् हैं वैसे ही यह सम्पूर्ण योगियोंका आधारस्वरूप हठयोग है। इसलिये इस योगके समस्त अंगप्रत्यंगोंका वर्णन विशेष रूपसे लिखता हूँ ॥ ५८ ॥

हठयोगके अङ्ग ।

यमोऽथनियमश्चैव आसनं तु तृतीयकम् ।
प्राणायामश्चतुर्थः स्यात्प्रत्याहारस्तु पञ्चमः ॥
धारणाथ तथा ध्यानं समाधिस्त्वष्टकं मतम् ॥ ५९ ॥

इस योगके आठ अंग होते हैं —१ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम,

---

१ गोरक्षपद्धतिमें हठयोगके केवल छः अंग लिखे हैं :—
"आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट् ॥"
१ आसन, २ प्राणायाम, ३ प्रत्याहार, ४ धारणा, ५ ध्यान और ६ समाधि ये छः योगाङ्ग हैं। केवल छः अंग माननेका कारण यह है कि यम और नियम तो साधारण गृहस्थ—

५ प्रत्याहार, ६ धारणा, ७ ध्यान और ८ समाधि। इन प्रत्येकके लक्षण आदि पृथक् २ प्रकरणोंमें यथाक्रम लिखे जाते हैं।। ५९।।

इति श्रीपण्डित–शिवनाथशर्मात्मज–पं० रामनरेश–मिश्र 'प्रेम' विरचिते बृहद्योग-सोपाने भाषाटीकायुते उपोद्धातप्रकरणं समाप्तम् ।। १ ।।

अथ प्रथमसोपान प्रकरण

यमका निरूपण

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ।। १ ।।

१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य, ५ क्षमा, ६ धृति, ७ दया, आर्जव, ९ मिताहार और १० शौच ये दशप्रकारके ,यम' कहाते हैं।। १ ।।

–मात्रके धर्म हैं।यानी गार्हस्थ्य जीवनमें भी यम–नियमपूर्वक रहनेका महर्षियोंने आदेश दिया है और दूरदर्शी विचारशील मनुष्य रहते भी हैं। ये दोनों गृहस्थाश्रमसे भिन्न योगके अंग नहीं हैं, इसलिये आसनसे लेकर समाधितक ही हठयोगके छः अंग होते हैं। यद्यपि गार्हस्थ्य जीवनमें ब्रह्मचर्यका परिपालन सर्वथा नहीं हो पाता, अतएव सर्वांशमें यमका पालन असंभव है, परन्तु वेदविहित पद्धतिसे व्याही हुई अपनी पाणिगृहीतीके साथ उचित–देश, कालमें सहवास करनेसे प्रह्मचर्यका खंडन नहीं होता। तभी तो ।।"आ सीता मरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी यो धर्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम् ।।" जिस धर्मसे उत्तम दूसरा धर्म नहीं है ऐसे श्रुति स्मृति प्रतिपादित विधानसे प्राप्त हुए एकपति की पत्नीके धर्मकी पालती हुई सीता आजीवन ब्रह्मचारिणी थी, यह मनुका कथन संगत होता है। अन्यथा श्रीसीताजीके लव और कुश पुत्र होते हुए उन्हें मनुजी ब्रह्मचारिणी कैसे कहते?

१ योगाचार्य श्रीपतञ्जलिजी ने यमके पांच ही भेद माने हैं। जैसे "अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" १ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय,–४ ब्रह्मचर्य और ५ अपरिग्रह। इन्होंने क्षमा और दयाका अहिंसामें, आर्जव (सरलता) का सत्यमें, एवं धैर्य और मिताहारके विना ब्रह्मचर्यका परिपालन नहीं हो सकता इसलिये इन दोनोंको ब्रह्मचर्यमें अन्तर्भाव मान लिया है। श्रीव्यासजीने श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धके १९ वें अध्यायमें बारह प्रकारके यम लिखे हैं:– "अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ।।
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ।।
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः ।।"

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंग, लज्जा, अपरिग्रह, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य मौन, स्थिरता क्षमा और अभय, ये बारह यम कहाते हैं। एवं अन्तः शौच, बाह्यशौच, तप, तप, होम, गुरु और वेदान्त वाक्यमें श्रद्धा, अतिथिसेवा, मूर्तिपूजन, तीर्थयात्रा, परोपकार, संतोष और गुरुकी सेवा ये बारह नियम कहाते हैं।

इन सबके लक्षण निम्नलिखित प्रकार हैं :--

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः ।। २ ।।

(१) **अहिंसा**--कर्म, मन और वाणी द्वारा किसी भी जीवको किसी भी प्रकारका कष्ट न पहुँचाना 'अहिंसा'[1] कहाती है । हिंसा तीन प्रकारकी होती है--१ कृता, २ कारिता और ३ अनुमोदिता । कृता स्वयं करना, कारिता दूसरे द्वारा करवा देना, अनुमोदिता पापकर्मको देखकर अथवा सुनकर प्रशंसापूर्वक यों कह देना कि 'वाह! आपने अच्छा किया ! यही करना चाहिये और ऐसे ही करो । 'इनमें मृदु मध्य और तीव्र भेद करके और भी तीन भेद होते हैं । इसी तरह हिंसाके और भी अनेकों भेद हैं । सारांश-यह कि अपने शरीरसे ऐसे काम न होने पायें कि जिनसे किसी भी छोटे अथवा बड़े प्राणीको कष्ट पहुँचे । मनमें ऐसी बातका चिंतन नहीं होना चाहिये कि जो हिंसात्मक हो । और वाणी द्वारा ऐसे वचन न निकलने पायें जिनसे दूसरे किसी प्राणीके मन में आघात पहुँचे । इस प्रकारकी सभी हिंसाओंके त्याग हो जाने पर साधकके अन्तःकरणसे वैर-भाव निकल जाता है और उस साधकका सारा संसार सच्चा मित्र बन जाता है । फिर तो उसे कहीं किसीसे भी भय नहीं प्राप्त होता । यथार्थ रीतिसे अहिंसा धर्मके पालन करनेवालेकेविषयमें भगवान् कृष्णचन्द्रने स्वयं अर्जुनसे कहा है कि--"यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः । हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।। " हे अर्जुन ! जिस प्राणी द्वारा न तो दूसरे प्राणियोंको कभी भयकी शंका उत्पन्न हो और न वही किसी दूसरे प्राणीसे डरता हो ऐसा हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्या) और भयसे रहित प्राणी मुझे (परम) प्रिय है ।। २ ।।

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं नायथार्थाभिभाषणम् ।। ३ ।।

(२) **सत्य**--जिसमें जीवात्माओंका हित निहित हो और जिसमें लेशमात्र भी झूठ न मिली हो उसे ,सत्य' कहते हैं । यानी प्रत्यक्ष, अनुमान

१--"तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा भूतानामनभिद्रोहः ।। " --व्यासभाष्य,

(छन्द गीतिका)

मनसे, वचनसे, कर्मसे, दुख दे किसीको भी नहीं ।
डरता रहे यों सर्वदा, 'अघ हो न यह मुझसे कहीं ।।
पाते नहीं सुख वे कभी, जो हैं सताते औरको ।
मिलती भला कब शान्ति है ? पल एक, डाकुचोरको ।। --दिनेश.

और शब्दप्रमाणसे अन्तः-करणमें जो सच्चा निश्चय ज्ञान हो उसे निष्कपट भावसे कह देना सत्य है।। ३ ।।

परन्तु —

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।। ४ ।।

—मनुस्मृति.

सत्य तो बोलना चाहिये, पर सत्य ऐसा नहीं होना चाहिये जो अप्रिय हो और प्रिय भी ऐसा ही बोलना चाहिये जो सत्यसे शून्य न हो। क्योंकि कानेको काना कहना यद्यपि सत्य है; पर अप्रिय होनेके कारण कानेके अन्तःकरणमें आघात पहुँचता है इसलिये वह हिंसारूप हो जाता है।ऐसे ही जिस प्रिय वचनमें झूठ मिली होती है वह सुननेमें तो प्रिय अवश्य लगती है। पर सुननेवालेको उससे परिणाममें दुःख प्राप्त होता है इसलिये वह भी हिंसात्मक हो जाता है। और सत्य-धर्मका उपदेश उस अहिंसाकी रक्षाके लिये है जो योगमार्ग अथवा मोक्षमार्गके दूसरे अङ्गका पहला अंग है। यद्यपि—"हितं मनोहारि सुदुर्लभं वचः ।।" प्रिय और हितकर वचनका बोलना अत्यन्त कठिन है. परन्तु कदाचित् ऐसा अवसर उपस्थित हो कि सत्य और प्रिय इन दोनोंमें से एकका विच्छेद होना चाहता है तो उस समय मौन धारण कर लेना ही उत्तम मार्ग है।

सत्यवादका सिद्धान्त यह है कि शब्दोच्चार समयानुसार चाहे जैसा हो, पर उसका आन्तरिक भाव सत्यसे संयुक्त अवश्य होना चाहिये। जैसे ३-४, ५-२, अथवा ३-४ इत्यादि सात ही होते हैं, साढे सात या पौने सात नहीं हो सकते। और यदि कोई कहे कि अमुक व्यक्ति लाहोरमें है और उसे यह भी मालूम है कि उस व्यक्तिने आजीवन लाहौरका मुखतक नहीं देखा, तो भी जानबूझकर कह देना 'झूठ' है। परन्तु यदि वास्तवमें वह लाहौरमें रहता है, उस समय यद्यपि कलकत्ते चला गया है, पर वक्ताके ज्ञानमें लाहौरका रहना सत्य है इसलिये यह 'असत्य' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष देखा हुआ, सुना हुआ, अथवा अनुमान किया हुआ निष्कपट भावसे कह देना ही तो 'सत्य' का लक्षण है। और जिस वाक्यका शब्दोच्चार यथार्थ हो, पर उसका अभिप्राय यथार्थ न हो तो वह कथन सत्य नहीं कहा जा सकता। जैसे-कोई कहे कि 'मैं एक पैसा नहीं चुराता' और वह केवल एक पैसा नहीं चुराता किन्तु तोडेके तोडे रुपये चुराता है तो यह वाक्य सत्य नहीं माना जा सकता, प्रत्युत महान् असत्य कहा जाता है। क्योंकि यह तो लोगोंके मनका समाधान करके सरासर सत्य-धर्मको धोखा देना है।। ४ ।।

'सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः'
"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा" ॥ ५ ॥

—मं० ५।३।१.

सत्यका महत्त्व— सत्यवादीकी ही जय होती है, असत्यवादीकी नहीं। सत्यधारी प्राणीके लिये देवयान मार्ग सदा प्रस्तुत रहता है और सत्यरूप तपस्या द्वारा प्राणी परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

इसलिये—

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत् ॥ ६ ॥

सत्यवचनके समान कोई धर्म नहीं है और झूठ बोलनेके समान दूसरा पाप नहीं है। यहाँ तक कि जिस ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है वह ज्ञान भी सत्यकी समता नहीं रखता। इसलिये सदैव सत्य बोलना * चाहिये। झूठके विषयमें भगवती श्रुति कहती है कि—"समूलं वा एषा परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति।' जो झूठ[1] बोलता है वह मूल सहित नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

कर्मणा मनसा वाचा परद्रव्येषु निःस्पृहः।
अस्तेयमिति संप्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ७ ॥

—याज्ञवल्क्य.

(३) **अस्तेय**—कर्म, मन, वाणी द्वारा गुप्तरूपसे किसी दूसरेके द्रव्योंकी इच्छा न करना यानी जिस वस्तुका जो स्वामी हो उसकी अनुमति विना अपने उपयोगमें न लेना 'अस्तेय' कहाता है। कदाचित् अनायास हीं किसी दूसरे का द्रव्य हाथ लग जाय तो उसके स्वामीका पता लगाकर पहुँचा दे। यदि किसी तरह पता न लगे तो अपने प्रदेशके अधिकारी द्वारा उस वस्तुकी यथोचित व्यवस्था करा दे ॥ ७ ॥

(छन्दगीतिका)

* जितना हृदयमें सत्य, उतना ही उसे मैं प्राप्त हूँ।
है रूप मेरा सत्य ही, मैं सत्यमें ही व्याप्त हूँ ॥
सच्चे पुरुषको स्वप्नमें भी, दुःख होता है नहीं।
दुख-फल फले क्यों झूठके, जो बीज बोता है नहीं ॥

—दिनेश.

१—"स्त्रीषुःनर्मविवाहेषु वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥"

स्त्रियोंके विषयमें, परिहासमें, विवाहमें, जीविका-रक्षक और प्राणसंकटमें, गौ और ब्राह्मणके रक्षणमें, एवं किसी भी प्राणीके प्राण जाते हों उनके रक्षणके लिये झूठ बोलनेमें पाप नहीं होता।

फल—यह होता है कि "अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थापनम्। यो
—२ पा० ३७ सू०।" जब मनुष्य शुद्धमनसे चोरी करना त्याग देता है
उसे सब स्थानोंमें अपनी इच्छाके अनुकूल सब प्रकारके रत्न * अर्थ
उत्तम पदार्थ अपने आप ही प्राप्त होने लगते हैं॥ ७॥

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥ ८॥

—याज्ञ—वल्क्यसंहिता.

(४) **ब्रह्मचर्य**—वह कहाता है जिसमें कर्म, मन और वाणी द्वा
प्रत्येक अवस्थामें सदा सब जगह मैथुनका त्याग होता है॥ ८॥

यह ब्रह्मचर्यका सामान्य लक्षण हुआ, अब इसका विशेष लक्षण दिख
हैं:—

मैथुनस्याप्रवृत्तिर्हि मनोवाक्कायकर्मणा।
ब्रह्मचर्यमिति प्रोक्तं यतीनां ब्रह्मचारिणाम्॥
तथा वैखानसानां च विदाराणां विशेषतः॥ ९॥

ब्रह्मचर्यके दो भेद हैं—१ मुख्य ब्रह्मचर्य और २ गौण ब्रह्मचर्य।
जिसमें अविच्छिन्न सर्वदा बिन्दुका अथवा रजका पतन नहीं होता वह 'मुख
ब्रह्मचर्य' कहाता है और जिसमें संयमपूर्वक वेदकी आज्ञावश कभी कभी बि
या शुद्ध रजकापतन भी होता हो वह 'गौण–ब्रह्मचर्य' कहा जाता है 'सर्व
सर्वदा वीर्य-तत्त्वका पतन न होना' यानी कर्म, मन, वाणी द्वारा मैथुन–कर्म
सर्वदा अप्रवृत्त होना–संन्यासी, वैखानस और अविवाहितोंके लिये ब्रह्मच
कहाता है। इसीको 'मुख्य–ब्रह्मचर्य' भी कहते हैं॥ ९॥

और—

सदाराणां गृहस्थानां तथैव च वदामि वः।
यथाविधि स्वदारेषु निवृत्तिश्चान्यतः सदा॥
मनसा कर्मणा वाचा ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम्॥ १०॥

जिसमें अपनी विवाहिता स्त्रीके साथ "ऋतौ भार्यामुपेयात्।" इ
श्रुति भगवतीकी आज्ञाके अनुसार योग्य समय समय पर वीर्य या रजका पत

---

* **दोहा-तनुसों चोरी करहि नहिं, मनहूमें नहिं लाइ।**
जहँ चाहै तहँ मिलत है, स्वयं रत्न सब आइ॥"
—प्रभुदयालु.

भी होता है वह गृहस्थोंके लिये 'ब्रह्मचर्य' कहा गया है। इसीका नाम 'गौणब्रह्मचर्य' है॥ १०॥

योगदर्शनके भाष्यकार महर्षि श्रीव्यासजी थोडे अक्षरोंमें ही उपरोक्त दोनों भेदोंका लक्षण कर रहे हैं उसे भी देखिये—

ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः॥ ११॥

—व्यास.

गुप्तेन्द्रिय रूप उपस्थका दृढ निग्रह होना यानी जननेन्द्रिय द्वारा होने-वाले विषयसुखका संयमपूर्वक त्यागना 'ब्रह्मचर्य' कहाता है। इस लक्षणमें 'संयम' शब्दका प्रयोग बड़े ही महत्त्वका है, उसीके बलसे संन्यासी और गृहस्थ दोनोंके लिये ब्रह्मचर्यका लक्षण प्रतिपादित होता है। शब्दकल्पद्रुममें लिखा है कि "व्रताद्यङ्गपूर्वदिनकर्तव्याचारः संयमः" किसी भी व्रतमें व्रतकी सिद्धताके लिये प्रथमकर्तव्य नियमका पालन करना 'संयम' कहाता है। जैसे श्राद्ध आदि कर्तव्याचारके सिद्धचर्थ पूर्व दिनमें 'एकभुक्त' रहना आदि, ऐसे ही निर्वि-कल्प समाधिके प्राप्त्यर्थ पूज्य पितामह 'भीष्म' जीके समान आजीवन वीर्य-पतन न होने देना संन्यासी, वैखानस, अथवा अविवाहितोंके लिये 'ब्रह्मचर्य' का लक्षण सिद्ध हो गया। एवं गार्हस्थ्य धर्म संपन्न होनेके लिये परायी स्त्रियोंका सर्वथा त्याग करके स्वकीयाके साथ ऋतुकालमें संसर्ग कहनेपर कभी कभी वीर्य और रजका परस्पर पतन होना सपत्नीकोंके लिये भी ब्रह्मचर्यका लक्षण सिद्ध हो गया। इस तरह ब्रह्मचर्यके दोनों भेदोंका लक्षण अल्पाक्षरोंमें ही कहा कहा गया है॥ ११॥

ब्रह्मचर्यके प्रथम लक्षणमें जो 'कर्म, मन, वाणीसे मैथुनका त्याग करना' लिखा है वह केवल ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये ही कहा गया है। अन्यथा मैथुनका त्याग ही ब्रह्मचर्यका लक्षण पर्याप्त था। मनमे चिन्तन करनेपर कामका प्रादुर्भाव होता है और कामके प्राकटचमें विषयसुखके लिये कार्य रूपमें परिणत होनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। ऐसे ही अपनी मित्र-मंडलीमें वाणी द्वारा कथन करनेसे भी मनमें कामका प्राकटच होकर विषयकी ओर जाना पड़ जाता है। इसलिये पूर्ण ब्रह्मचर्य निभानेके लिये साधकोंको चाहिये कि कामो-द्दीपक वस्तुओंके देखने सुननेका अवसर उपस्थित न होने दें। यानी शृङ्गारर-सप्रधान पुस्तकोंका अवलोकन, अथवा शृङ्गाररसवाली कविताका कहना, सुनना आदि त्याग दें।

ब्रह्मचर्य सिद्ध होनेके लिये निम्नलिखित बातोंपर साधकको अवश्य ध्यान देना चाहिये :—

ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधा लक्षणं पृथक् ।
स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।। १२ ।।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।। १३ ।।
न ध्यातव्यं न वक्तव्यं न कर्तव्यं कदाचन ।
एतैः सर्वैर्विनिर्मुक्तः यतिर्भवति नेतरः ।। १४ ।।

—दक्षसंहिता.

सर्वदैव ब्रह्मचर्यका रक्षण करना चाहे तो आठ नियमोंका अवश्य पा करे । वे आठ नियम ये हैं— १ रागपूर्वक स्त्रीका स्मरण करना, २ स्त्रीसंब बातें करना, ३ स्त्रियोंके साथ खेलना, ४ उन्हें रागपूर्वक देखना, ५ उनके स एकान्तमें वार्तालाप करना, ६ उपभोग करनेके लिये संकल्प करना, ७ साक्षात्क होनेके लिये निश्चय करना और ८ संभोग करना । ये ही आठ मैथुन अंग भी कहाते हैं । इन आठोंके त्यागनेवाला ही संन्यासी होता है, दूस नहीं ।।१२–१४ ।।

इन्हें त्याग देने पर ही ब्रह्मचर्य हो सकता है अन्यथा संभव नहीं क्योंकि :—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।। १५ ।।

—मनुस्मृति.

इन्द्रियोंका वेग इतना प्रबल होता है कि बड़े-बड़े विद्वानोंके भी छ छूट जाया करते हैं । इसलिये दूरदर्शी (मतिमान्) मनुष्योंको चाहिये चाहे अपनी बहिन, बेटी अथवा माता ही क्यों न हो, परन्तु एकान्तस्थान इनके भी साथ न बैठे ।। १५ ।।

और भी—

स्त्रीरत्नं ध्यातमात्रं तु ब्रह्मणोऽपि मनो हरेत् ।
किं पुनश्चेतरेषां तु विषयेच्छानुवर्तिनाम् ।। १६ ।।

सुन्दर स्त्रियाँ चिन्तनमात्रसे ही ब्रह्मा जैसे योगियोंके भी मन ह कर लेती हैं तो इतर जो विषय—सुखके सच्चे उपासक हैं उनके मन ह करनेमें कब चूक सकती हैं ? यानी—"सुर, मुनि जनको मोहहीं, को है बपु आन ?" ।। १६ ।।

इसलिये—

स्त्रीरत्नं मोहनं सृष्टं दृष्टमाशीविषोपमम् ।
यदीच्छेदात्मनः श्रेयो मनसाऽपि न चिन्तयेत् ।। १७ ।।

—योगरसायन.

यदि अपना कल्याण चाहे तो मनसे भी स्त्रियोंका चिन्तन न करे। क्योंकि जितना इनमें ऊपरी भावुकताकी झलक होती है उससे बहुत अधिक इनके अन्दर वह विष भरा हुआ होता है जिसके कारण विविधप्रकारकी आधियां और व्याधियाँ प्राणीके पीछे लगी रहती हैं। इसीलिये तो स्त्रियोंको जहरीले सांपोंकी उपमा दी जाती है ।। १७ ।।

ब्रह्मचर्य धारण— करनेसे क्या क्या लाभ होता है? इस विषयमें वेद और शास्त्रोंमें प्रकरणके प्रकरण प्रस्तुत हैं, एवं इस समय प्राचीन और अर्वाचीन सत्कवियों तथा लेखकोंके लिखे हुए अनेक ग्रन्थ उपस्थित हैं, इसलिये विशेष न लिखकर केवल योगदर्शनका एक सूत्र उद्धृत करता हूँ :—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां विर्यलाभः ।। २ पा० ३८ सू० ।। १८ ।।

ब्रह्मचर्य'की प्रतिष्ठामें वीर्य यानी पराक्रमकी प्राप्ति होती है। शरीरमें वीर्य ही एक मुख्य तत्त्व है कि जिसके प्रभावसे मनुष्य विविध सिद्धियां प्राप्त कर लेते हैं। जिसमें जितनी मात्रामें वीर्य रहता उतनी ही उसमें शक्ति होती है। इस विषयमें और अधिक न कहकर केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि संसारका सारा व्यापार एक वीर्यपर ही निर्भर है ।। १८ ।।

प्रियाप्रियेषु सर्वेषु समत्वं यच्छरीरिणाम् ।
क्षमा सैवेति विद्वद्भिर्गदिता वेदवादिभिः ।। १९ ।।

(५) क्षमा—प्रिय और अप्रिय करनेवाले समस्त प्राणियोंमें राग द्वेषका न होना 'क्षमा' कहाती है। यानी प्रिय और अप्रिय दोनोंको समान सम-

---

(छन्द—गीतिका)

१—"कटते कठिन बंधन सकल, इस ब्रह्मचर्य-कुठारसे।
कटता दुखोंका वन गहन, इसकी प्रखरतर धारसे ।।
सब साधनोंका एक यह, साधन शिरोमणि है अहा!
सारे व्रतोंमें एक ही यह, पुण्य-व्रत बस है महा ।।
इसके बिना नीरस शिथिल, निहस्सार निर्बल हैं सभी।
भूपति विना सचिवादि क्या, सत्ता निजी रखते कभी?
इहलोक वा परलोक - गति, निर्भर इसीपर सर्वदा।
सब सम्पदाओंसे यही बढ़कर जगत्में सम्पदा ।।" —दिनेश

झना ही क्षमा है ऐसा वेदवादियोंका सिद्धान्त है। अथवा यों समझिये कि
कोई दण्डनीय कार्य कर चुका हो और उसे उचित दण्ड न देना क्षमा है।। १९ ।।

क्षमाऽहिंसा क्षमा धर्मः क्षमा चेन्द्रियनिग्रहः ।
क्षमा दया क्षमा यज्ञः क्षमा धैर्यमुदाहृतम् ।। २० ।।

प्रिय और अप्रिय दोनों अवस्थाओंमें जिसकी चित्तवृत्तियां सम
रहती हैं उस क्षमाशील प्राणीसे हिंसा नहीं हो पायेगी इसलिये क्षमाके अ
अहिंसा धर्म सदा अटल रहता है। इसीसे क्षमाका नाम अहिंसा है और इसी
नाम धर्म, इन्द्रियनिग्रह, दया, यज्ञ तथा धैर्य भी है।। २० ।।

इसलिये—

क्षमावान् प्राप्नुयात्स्वर्गं क्षमावान्प्राप्नुयाद्यशः ।
क्षमावान्प्रायान्मोक्षं क्षमावाँस्तीर्थमुच्यते ।। २१ ।।

—वृद्धगौत

क्षमावान् प्राणीको स्वर्गीय[1] सुख, यश और यहाँ तक कि अन्तमें मोक्ष
सुख भी प्राप्त हो जाता है। इसीलिये क्षमावान् तीर्थस्वरूप कहाता है।। २१
और—

क्षमा खड्गं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।। २२ ।।

जिस प्रकार तृण रहित स्थानपर अग्नि पहुँचकर अपने आप ही शा
हो जाती है उसी प्रकार क्षमारूपी तलवार[2] जिसके हाथ में रहती है उसे दुष्ट
भी दुष्ट लोग नहीं सता सकते। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवालेको अव
क्षमाशील बनना चाहिये।। २२ ।।

(छंद गीतिका)

१—"नरका सहज भूषण 'क्षमा' पावन सुहावन सर्वदा।
तुलती न इसके सामने संसारकी सब सम्पदा।।
होकर सबल सब भांति, फिर भी दोष परके भूलना।
करना क्षमा करके दया, है स्वर्ग-झूले झूलना।।"

—दिनेश.

(सिंहावलोकन)

२—"कर है जिहिके तलवार सखे ! तिहिको अरिते न कछू डर है।
डर है तब ही जब नीति नहीं, बिनु नीति सही यमको घर है।।
डर है यमको दुख-दाव समान, जहाँ नितहू तनु-ताप रहै।
पर है तनु-ताप तहाँ तब लौं जब लौं नहिं टेरत 'शंकर' है।।"

—'प्रेम'

अर्थहानौ च बन्धूनां वियोगे चाप्यसंपदि ।
तयोः प्राप्तौ च सर्वत्र चित्तस्य स्थापनं धृतिः ।। २३ ।।

(६) **धृति**— उस पदार्थका नाम है कि जिसके प्रभावसे अर्थहानि और अपने प्रिय पुत्रादिके वियोग एवं बिलकुल निर्धन अवस्थामें भी मनुष्यके चित्तमें कुछ घबड़ाहट नहीं होने पाती, इससे वह प्राणी आनन्दपूर्वक बैठा रहता है। सारांश यह कि जिसके हृदयमें 'धृति' का सदा निवास रहता है वह सुख अथवा दुःख किसी भी अवस्थामें हो, पर उकताकर अर्थका अनर्थ नहीं कर सकता। इसलिये मनुष्यको धैर्य (धृति) वान् होना चाहिये।। २३ ।।

यत्नादपि परक्लेशं हर्तुं वा हृदि जायते ।
इच्छा भूमिसुरश्रेष्ठ ! सा दया परिकीर्तिता ।। २४ ।।

(७) **दया**—श्रद्धापूर्वक दूसरोंके क्लेशोंको दूर करनेके लिये उपाय करनेकी जो इच्छा उत्पन्न होती है उसीका नाम 'दया'[२] है।। २४ ।।

अथवा—

परे वा बन्धुवर्गे च मित्रे द्वेष्टरि वा सदा ।
आत्मवद्वर्तितव्यं हि दयैषां परिकीर्तिता। ।। २५ ।।

—पद्मपुराण.

दूसरेके या अपने प्रिय कुटुंबोंके साथ, मित्र और शत्रुके साथ सदा आत्मीय जनोंके साथ जैसा समान व्यवहार करना 'दया' कहाती है। विचारशील मनुष्य सच्चे हृदयसे ऐसा समझते हैं कि जैसे मुझे अपने प्राण प्यारे हैं वैसे ही पशु पक्षी आदिकोंको भी अपने अपने प्राण प्यारे हैं और जैसे रोग, शोक आदि अवस्थाओंमें मुझे कष्ट होता है वैसे ही अन्य प्राणियोंको भी होता है इसलिये वे समस्त प्राणियोंको अपने तुल्य ही समझते हैं। इतना ही क्यों, वे संसार में प्राणिमात्र सुखी रहें ऐसी प्रतिक्षण कामना भी करते रहते हैं और सबोंके दुःख छूटनेके

१—"जीवन-समरमें सर्वदा धीरज-कवच धारण किये।
कटिबद्ध हो जो बढ रहे, उत्साहकी सेना लिये ।।
निजकृत पुरातन कर्म-फलके बाण हँस हँस खा रहे ।।
सचमुच वही नर मुक्ति–जयकी ओर बढते जा रहे ।।" —दिनेश

(भगवान् श्रीकपिलदेवजीके श्रीमुखद्वारा)

२—"लखकर दुखी जन दीन, जिसका है हृदय न पसीजता।
मुझको रिझाना चाहता, कैसे भला मैं रीझता ? ।।
जिसके हृदयमें है दया, करता उसी पर मैं दया।
कर दूं सुलभ उसको सभी, सुख दूं उसे मैं नित नया।" —दिनेश

लिये प्रयत्न भी। इसी तरहका बर्ताव सभी मनुष्योंको करना चाहिये। क्योंकि जिसके हृदयमें दया-भाव सदैव टिका रहता है वह सारे संसारको अपने वशमें कर लेता है। कारण यह है कि दयावान् प्राणीसे किसी भी जीवको किसी प्रकारका कष्ट नहीं हो पाता इसलिये सभी उसके सच्चे मित्र जैसे बने रहते हैं॥ २५॥

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा एकरूपत्वमार्जवम्॥ २६॥

(८) **आर्जव**—प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गमें यानी प्रपञ्च तथा परमार्थमें चित्तकी वृत्तियोंका समान रहना 'आर्जव' कहाता है। साधकोंको चाहिये कि कर्म, मन, वाणी, द्वारा अपनी विहित कार्योंमें प्रवृत्ति और निषिद्ध कार्योंमें निवृत्ति देखकर मनमें अभिमान न करें एवं सबके साथ सरलता पूर्वक ही वर्ताव रखें। [१]सरलता धारण कर लेनेपर मनसे कुटिलता दूर हो जाती है तो सारा संसार अपना हो जाता है॥ २६॥

शुद्धं सुमधुरं स्निग्धमुदरार्धविवर्जितम्।
भुज्यते सुरसं प्रीत्या मिताहारमिमं विदुः॥ २७॥

(९) **मिताहार**—शुद्ध, मधुर और स्निग्ध पदार्थों सहित रसीले पदार्थका रुचिपूर्वक आधापेट खाना 'मिताहार' कहाता है।

प्रश्न—यहाँ यह स्वाभाविक ही शंकाका उत्थान हो सकता है कि विना पूर्ण भोजन हुए चित्त, मन अथवा अन्तःकरण स्वस्थ नहीं रह सकता और विना स्वस्थ चित्त हुए मनुष्य कोई काम कर ही नहीं सकता। इस विषयका प्रतिपादन करनेवाला यह श्लोक संस्कृत साहित्यमें प्रसिद्ध है कि

(छन्द गीतिका)

१—"मनमें कुटिलता तनिक भी आने न दे ऋजु-भावसे।
बन जाय सारी सृष्टिमें प्रेमी सभीका चावसे॥
प्रेमी हुआ जब लोकका, 'त्रयलोकनाथ' उसे तभी।
इस लोकके आवागमनसे मुक्त करते हैं, कभी॥" —प्रेम

२—"मनमें कहीं भी बाँकपन रहने न दे, लघुता गहे।
सबके दृगोंमें बस रहे, सबके उरोंमें गँस रहे॥
मेरे रिझानेका अहो! बस, सरल साधन है यही।
पहले रिझाए विश्वको, मेरा रिझाना कुछ नहीं॥
जो एक भी लघुजीवके उरमें नहीं है खटकता।
आते हुए मुझतक उसे कोई नहीं फिर अटकता॥
मुझको रिझानेके लिये, साधन 'सरलता' है सही।
वह पा मुझे सकता नहीं, जिसमें सरलता है नहीं॥' —दिनेश

कि—"काव्येन हन्यते शास्त्रं काव्यं नाटचेन हन्यते। नाटचं तु स्त्रीविलासेन स्त्रीविलासो 'बुभुक्षया'।" काव्य द्वारा तो शास्त्रके सिद्धान्तो पर आघात पहुँचता है और नाटच-कलाके सामने काव्य को भी संकोच करना पड़ता है। एवं स्त्रियोंके वक्र कटाक्षो द्वारा नाटच भी फीका पड जाता है, और आगे तो प्रिय पाठको! फिर वही है कि जब भूख लगती है तो किसीकी भी दाल नहीं गलने पाती। कहनेका आशय यह कि आधापेट खानेसे भूख तो बनी ही रहेगी, इसलिये अन्नदेवका चिन्तन होगा, या आत्मदेव अथवा अन्य देवका ?, नहीं, उस समय तो सबसे अधिक अन्नदेव ही जँचेंगे। इस तरह यह निश्चित बात है कि भूख लगी रहनेपर योगसाधन नहीं हो सकता ?

उत्तर—आधापेट खानेका यह मतलब नहीं है कि भूखाही रह जाया करे। किन्तु बात ऐसी है कि—"अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम्। उदरस्य तुरीयांशं संरक्षेद्वायुरक्षणे॥" उदरका आधाभाग तो सात्त्विक, स्निग्ध, बलकारक और मधुर अन्न खाकर पूर्ण करे तथा तीसरा भाग जलसे पूर्ण करे। एवं चौथे भागको इसलिये खाली रखे रहना चाहिये जिससे शरीरस्थ वायुका संचार उचितरीतिसे हुआ करे॥ २७॥

कदाचित्—

मिताहारं विना यस्तु योगारम्भं तु कारयेत्।
नानारोगो भवेत्तस्य किंचिद्योगो न सिद्धचति॥ २८॥

मिताहारके विना ही कोई योगसाधन करने लग जाता है तो वह योग—सिद्धिके बदले रोग-सिद्धि पा जाता है यानी रोगी बन बैठता है॥ २८॥

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां हि बाह्यं तु मनःशुद्धिस्तथान्तरम्॥ २९॥

(१०) शौच—दो प्रकारका होता है-एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। मिट्टी और जल आदिसे जो शुद्धिकी जाती है वह 'बाह्य-शुद्धि' कहाती

---

१ किसी किसीके मतमें पांच प्रकारका शौच माना गया है, यथा :—
"मनःशौचं कर्मशौचं कुलशौचं च भारत।
शरीरशौचं वाक्शौचं शौचं पञ्चविधं स्मृतम्॥" —वृद्धगौतम

हे भारत! १ मनकी पवित्रता, २ कर्मकी पवित्रता, ३ कुलकी पवित्रता, ४ शरीरकी पवित्रता और ५ वाणीकी पवित्रता, ये शौचके पांच भेद होते हैं। इस तरह पांच प्रकारका भेद माननेमें यद्यपि भिन्नता होनी चाहिये, पर कुलशौच और शरीरचौचको बाह्यमें, एवं कर्मशौच, वाणीशौच और मनशौचको आभ्यन्तरमें अन्तर्भाव मानकर दो ही भेदमें पाचों गतार्थ हो जाते हैं, इसलिये दोनों आचार्योंके मन्तव्यमें अन्तर नहीं है।

है और जो मनकी शुद्धि होती है वह 'आभ्यन्तर-शुद्धि' कहाती है ॥ २९
इस लक्षणमें यद्यपि बाह्य शुद्धिके लिये साधनका प्रतिपादन कर दि
गया है; पर मनकी शुद्धिके विषयमें कुछ भी नहीं कहा । इसलिये आप दूस
श्लोक लिखते हैं :--

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ।। ३० ।।

--याज्ञवल्क्य.

'जल' से तो शरीरका बाहरी भाग शुद्ध होता है और 'सत्य' से मनक
शुद्धि होती है यानी शरीरका आन्तरिक भाग शुद्ध होता है। एवं विद्या औ
तप द्वारा जीवात्माकी शुद्धि होती है तथा तत्त्वज्ञानसे बुद्धिकी शुद्धि होती
है ।। ३० ।।

दु:खकी आत्यन्तिक निवृत्ति और सार्वकालिक पूर्ण सुखकी प्राप्ि
बाह्यशुद्धि द्वारा नहीं हो सकती। तभी तो :--

आत्मा[1] नदी संयमपुण्य-तीर्था,
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ।। ३१ ।।

कविवर विष्णुशर्माने लिखा है कि--यह आत्मा ही नदी है, इसमें
संयमपूर्वक जो पुण्य कर्म किये जाते हैं वे ही इसे तीर्थरूप किये रहते हैं। और
सत्यव्रत धारण करना ही इसमें जल है। एवं सरलस्वभाव ही इसके तट है
और प्राणियोंकी ओर सदा दयाभावका रहना इस आत्मा नदीकी लहरिय
हैं। हे युधिष्ठिर ! इस प्रकारकी नदीमें प्रतिदिन स्नान करोगे तभी अन्तरात्मा
शुद्ध हो सकती है, अन्यथा जल आदि द्वारा ऊपरी स्नानसे नहीं हो सकती।
इसलिये बाह्यशौचके साथ साथ आन्तरिक स्नान अवश्य होना चाहिये ।। ३१ ।।

इति श्रीपण्डित शिवनाथशर्मात्मज-पं० रामनरेशमिश्र 'प्रेम' विरचिते
भाषाटीकायुते बृहद्योगसोपाने प्रथमसोमान-प्रकरणं समाप्तम् ।।

१--यह श्लोक महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म ९ वें अध्यायके ३३ वें पद्यका अविकल
अनुवाद है, यथा :--

"आत्मा नदी भारत ! पुण्य-तीर्था;
सत्योदका धृति-कूला दयोर्मिः ।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा,
पुण्यो ह्यात्मा नित्यमम्भोऽम्भ एव ।।"

अथ द्वितीय सोपान प्रकरण

नियमका निरूपण

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तवाक्य श्रवणं ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम् ।।
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ।। १ ।।

—याज्ञवल्क्य.

योगशास्त्रमें निपुण महर्षियोंने यमके दश भेद माने हैं— १ तप, २ सन्तोष, ३ आस्तिक्य, ४ दान, ५ ईश्वरपूजन, ६ सिद्धान्तवाक्यश्रवण, ७ ह्री, ८ मति, ९ जप और १० हुत ।। १ ।।

नियमके भेदका लक्षण यथाक्रम निम्नलिखित हैं:—

विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं—प्राहुस्तपसां तप उत्तमम् ।। २ ।।

१) तप—विधिपूर्वक शास्त्रीय मार्गसे कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों द्वारा शरीरको सुखाना 'तप' कहाता है।

महाराज श्रीव्यासदेवने तपका लक्षण इस प्रकार लिखा है :—

तपः—द्वन्द्वसहनम् । द्वन्द्वाश्च जिघासा-पिपासे,
शीतोष्णे, स्थानासने, काष्ठमौनाकारमौने च,
व्रतानि चैषां यथायागं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि ।

द्वन्द्वका सहन कर लेना 'तपका' लक्षण है। और परस्पर संबन्धित दो वस्तुओंका नाम 'द्वन्द्व' है। जैसे—क्षुधा—प्यास ठंढा—गर्म, स्थान—आसन, काष्ठमौन—'आकारमौन और कृच्छ्र चान्द्रायण, सान्तपन आदि व्रत। व्यास भाष्यके वृत्तिकार वाचस्पति मिश्रने, काष्ठमौन और आकारमौनका अर्थ-

---

१ योगदर्शनमें पांच प्रकारका ही नियमलिखा है :—

"शौचसंतोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।।" —श्रीपतञ्जलि

शौच, संतोष, तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान, ये पांच नियम कहा हैं। यद्यपि इनके और श्रीयाज्ञवल्क्यके नियमके लक्षणमें संख्या, नाम आदि उपाधियोंका वैषम्य है, इसलिये भिन्नता होनी चाहिये, पर यह बात नहीं हैं, क्योंकि याज्ञवल्क्य जो अनेक नाम और लक्षण मानकर दश भेद मानते हैं उन्हें श्रीपतञ्जलिजी पांचमें ही अन्तर्भाव मानकर गतार्थ कर लिये हैं। जैसे—दान, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति और हुतको शौचमें तथा आस्तिक्यको तपमें। इसी तरह जपके स्थानमें 'स्वाध्याय' और ईश्वरपूजनके स्थानमें 'ईश्वरप्रणिधान' शब्दका प्रयोग किये हैं।

लिखा है कि —"काष्ठमौनमिङ्गितेनापि स्वाभिप्रायाप्रकाशनम्। अवचन मात्रमाकारमौनम्।।" किसी भी अङ्ग संकेतसे अपने अभिप्रायको जनतामें अथवा कहीं भी जनताके प्रकाशमें न आने देना 'काष्ठमौन' कहाता है और वाणी द्वारा प्रकाशित न करना 'आकारमौन' कहा जाता है। सारांश यह कि कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतोंको यथाशक्ति क्रमशः करते करते ऐसी अवस्था प्राप्त कर ले कि शरदी गर्मी आदि द्वन्द्वों द्वारा अन्तःकरणको दुःखकी प्रतीतिका होना मिटजाय। परन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब योगसाधन करते २कुम्भक प्राणायाम सिद्ध हो जाता है। क्योंकि केवल प्राणायाममें ही एक ऐसी शक्ति निहित है जो भूख, प्यास और शीत, उष्ण आदि दुःखदायी शत्रुओंको पराजित कर अन्तःकरणको सुखात्मक विजयश्री दिला सकती है।। २।।

भगवान् कृष्णचन्दजीने अर्जुनके प्रति त्रिविध पदार्थोंका प्रतिपादन करते हुए गीतामें श्रीमुखसे 'तप' का भी त्रैविध्य बताया है। तयथा :—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजन शौचचार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च शारीरं तप उच्चते।। ३।।

(१) देवता, ब्राह्मण, गुरु और प्राज्ञ (तत्त्ववेत्ताओं) का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा 'शारीरक' तप कहाता है।। ३।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङमयं तप उच्यते।। ४।।

(२) किसीके भी मनको उद्वेग न करनेवाला सत्य, प्रिय और हितकारी भाषण तथा वेदाभ्यासको 'वाचनिक' तप कहते हैं।। ४।।

मनःप्रसाद सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्यतत्तपो मानसमुच्यत।। ५।।

(३) मनको प्रसन्न रखना, सौम्य—भावसे रहना मौन रहना, अपने मनको वशमें रखना और हृदयमें निष्कपटभाव का रहना 'मानसिक' तप कहा गया है।। ५।।

फल यह होता है कि :—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुचिक्षयात्तपसः।। ६।।

—योगदर्शन.

तप'से जब शरीरगत पाप दूर हो जाते हैं तो शरीर और इन्द्रियोंको

१—"तप–गर्भमें सर्वस्व है, तपके विना कुछ है नहीं।
तपता तरणि तपमय तथा तपपर टिकी है यह मही।।
तपके विना सफलता मिल कभी सकती नहीं।
माया, तपस्वी वीरको है स्वप्नमें तकती नहीं।।" —दिनेश

सिद्धता प्राप्त होती है। यानी शरीरसिद्धिसे तो अणिमादिक सिद्धियां मिलती हैं और इन्द्रियसिद्धिसे दूर देशके देखने तथा सुनने आदिकी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।। ६ ।।

और--

औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः।
तपसैव प्रसिद्धयन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ।। ७ ।।

--मनुस्मृति.

रसायनादि औषध, शरीरकी नीरोगता, वेदादिक विद्या और आकाशगमन आदि अनेक प्रकारकी विभूतियाँ तप द्वारा ही प्राप्त होती हैं। यानी सारी सिद्धियोंके लिये एक तप ही साधन है।। ७७ ।।

यदृच्छालाभतो नित्यं मनः पूतं सहेदिति।
आधींस्तानृषयः प्राहुः संतोषं सुखलक्षणम् ।। ८ ।।

(२) **सन्तोष**--ईश्वरीय इच्छासे अपने कर्मानुसार जो कुछ थोड़ा बहुत अन्न, वस्त्र आदि पदार्थ मिल जाय उसीमें प्रसन्न मन रहना और समस्त मानसिक दुःखोंको हर्षपूर्वक सहन करना 'संतोष' कहाता है।। ८ ।।

योगदर्शनके भाष्यकार श्रीव्यासदेवजी सन्तोषका लक्षण इस प्रकार लिखते हैं :--

'संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा संतोषः ।। ९ ।।

इसका अर्थ वृत्तिकार श्रीवाचस्पतिजी मिश्र लिखते हैं कि--"प्राणत्राणमात्रहेतोरधिकस्यानुपादित्सा, प्रागेव स्वीकरणपरित्यागादिति शेषः ।।" जितने पदार्थसे पांचभौतिक शरीरमें प्राणदेव विना घबड़ाहटके रह सकें उतनेसे अधिक लेनेकी इच्छाका न होना 'संतोष' कहाता है। यदि पहलेसे ही परिग्रहका त्याग कर दे तो यह संतोष अनायास ही सिद्ध हो जाता है। इसलिये परिग्रहका त्याग करना चाहिये।। ९ ।।

फल--जिसके हृदयमें सन्तोष आ जाता है उसे उस अनुत्तम[२] सुखका लाभ होता है जो सदा सुखी बनाये रखता है। माना कि बहुतेरे सुख ऐसे हैं

(गीतिका)

१--"संतोष धनके तुल्य क्या धन और है संसारमें ?
आता न संतोषी कभी, चिन्ता-कुठारो मारमें ।।
जो कुछ मिले श्रम-दैवसे, संतुष्ट उसमें ही रहे।
वह कामनाओंके थपेड़े फिर भला कैसे सहे ?" ।। --दिनेश

२--"संतोषादनुत्तमसुखलाभः।" --यो० २ पा० ४२ सू०

जो विविध प्रकारके सुख अथवा आनन्दका अनुभव प्रत्यक्ष दिखाते हैं, पर व
सुख कुछ और ही है जो सन्तोषी जनोंको होता है। उसका अनुभव और उस
लाभ वे ही लोग जान सकते हैं जो सच्चे सन्तोषी होते हैं।

धर्माधर्मेषु विश्वासो यस्तदास्तिक्यमुच्यते ॥१०॥

—याज्ञवल्क्य.

(३) **आस्तिक्य**—धर्म (विहितकर्म) और अधर्म (निषिद्धकर्म)
विश्वास किंवा श्रद्धा रहनेका नाम 'आस्तिक्य' है। आशय यह कि 'गुरुवेदान्त
वाक्येषु विश्वासः श्रद्धा।' सद्गुरु एवं सच्छास्त्र द्वारा निश्चित ज्ञानमें प्रेम
पूर्वक विश्वास रखकर उसीके अनुसार बर्ताव रखना आस्तिक्य कहाता है।

संसारमें जितने विविधप्रकारके व्यवहार चल रहे हैं वे सबके सब विश्वा
पर ही निर्भर हैं। यदि विश्वास हट जाये तो कोई किसीको बाततक न पूछे
जैसे—जब यह पूरा विश्वास स्थिर हो जाता है कि प्रिय पुत्रके शरीरमें
प्राण पखेरू चल बसे तभी उसको जलाने अथवा जलमें फेंकने देता है, इसके
विपरीत वह कभी भी जलाने या फेंकनेकी इच्छा न करेगा। इस विषय
और अधिक न लिखकर केवल इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि यदि
विश्वास न हो तो कोई भोजन तक भी न करे। यानी जब तक यह विश्वा
नहीं हो लेता कि यह पदार्थ मुझे पुष्ट करेगा, एवं मेरा 'भक्ष्य' है तबतक उस
खानेकी इच्छा कोई नहीं करता। मतलब यह कि चाहे योगसाधन हो किंवा
और कोई कार्य हो, विना विश्वास हुए कुछ भी नहीं हो सकता। इसलि
योगसाधनकी इच्छा रखनेवाले प्राणियोंको चाहिये कि गुरु तथा वेदान
वाक्यमें विश्वास रखें ॥ १० ॥

न्यायार्जितं धनं चापि ह्यर्थिभ्यो यत्प्रदीयते।
दयया श्रद्धया युक्तं दानमेतत्प्रकीर्तितम् ॥ ११ ॥

—याज्ञवल्क्य.

(४) **दान**— न्यायपूर्वक पैदा किये हुये पदार्थों का योग्य सत्पात्रोंको
देना 'दान' कहाता है ॥ ११ ॥

भगवान् कृष्णचन्द्रजीने दानका त्रैविध्य बताते हुए दानका असली रहस्य
अर्जुनको समझाया है :—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
दशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ १२ ॥

सात्त्विक—जिससे अपना किसी प्रकारका स्वार्थ न हो ऐसे सत्पात्र[१]

१—जो तप और वेद-शास्त्रसंपन्न हो वही 'सत्पात्र' कहाता है।

देश (कुरुक्षेत्र आदि तीर्थों) में और काल (ग्रहण, संक्रांति आदि (में न्यायार्जित द्रव्यका देना 'सात्त्विक-दान' कहाता है।। १२ ।।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ।। १३ ।।

राजस--कभी इसके द्वारा मुझे अमुकप्रकारका उपकार होगा ऐसा समझकर, किंवा स्वर्गादिकामनाके उद्देश्यसे जो अमंगल द्रव्यका दान होता है वह 'राजस-दान' कहाता है ।। १३ ।।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।। १४ ।।

---भगवद्गीता.

तामस--अपवित्र स्थानमें, अशौच समयमें, ऐसे ही अपात्र---विट नट, नर्तकी आदिको जो दान दिया जाता है और जो देश, काल, एवं पात्रता होते हुए भी अपमानपूर्वक दिया जाता है वह 'तामस---दान' कहाता है ।। १४ ।।

इन त्रिविध दानोंमेंसे सात्त्विकदान ही सच्चा सुख देनेवाला होता है। पर आजकल तो शायद ही कहीं किसीसे सात्त्विकदा॰न होता होगा, अधिकांशमें राजस, और तामस की ही भरमार है। अस्तु, यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है समस्त पदार्थोंमेंसे कौनसे पदार्थका दान अधिक महत्त्व रखता है? :--

सर्वेषामेव दानानामन्नदानं परं स्मृतम् ।
सर्वेषामेव जन्तूनां यतस्तज्जीवितं फलम् ।। १५ ।।

---संवर्तसंहिता.

समस्त दानोंमें एक 'अन्न-दान' ही ऐसा श्रेष्ठ है जिसकी समता दूसरे दान नहीं कर सकते, क्योंकि अन्नसे ही प्राणियोंका जीवन होता है और जीवन द्वारा ही भुक्ति, अथवा विषयानुरक्ति आदि क्रियाएँ संपन्न होती हैं ।। १५ ।।

इसीसे तो :--

यस्मादन्नात्प्रजाः सर्वाः कल्पे कल्पेऽसृजत्प्रभुः ।
तस्मादन्नात्परं दानं न भूतं न भविष्यति ।। १६ ।।

संहिताकार इसी बातको फिर दुहराते हैं कि जगन्नियन्ता भगवान् प्रत्येक

(गीतिका।)

१—"तन, मन वचन से सर्वदा सत्-दान करना श्रेष्ठ है।
लख काल, थल अनुकूल सब सत्पात्र-दान यथेष्ट है।।
धनका तथा संमानका, शुभ अन्न, रक्षण प्राणका।
विद्या, अभय, सबमें बड़ा है—'दान आत्म-ज्ञानका' ।।" —दिनेश

कल्पमें अन्नद्वारा ही सारी प्रजाओंका निर्माण करते हैं इसलिये अन्नसे बढ़कर दूसरा दान न हुआ है, न है और न होगा ।। १६ ।।

अन्तमें दानके विषयमें केवल इतना ही कहना है कि अपनी अपनी शक्तिके अनुसार, एवं अपने अपने धर्मके अनुकूल सभीको दान करना चाहिये । अन्यथा :—

चत्वारो धनदायादा धर्माग्निनृपतस्कराः ।
ज्येष्ठस्य त्ववमानेन कुप्यन्ति सोदरास्त्रयः ।। १७ ।।

जिस धर्मके आधार पर सारी सृष्टिके प्रपंचकी स्थिति है उसके सहोदर भाई जो तीन और हैं वे अनेक प्रकारके कष्ट उपस्थित करने लग जाते हैं, जिनका नाम १ अग्नि, २ नृप (राजा) और ३ तस्कर (चोर) है। आशय यह कि जब अपने अपने धर्मके अनुसार यथाशक्ति समय समयपर दान नहीं दिया जाता तो अपने आप ही ऐसे ऐसे काम बन जाया करते हैं कि जिनसे राजा दण्डस्वरूपमें संपत्तिका हरण कर लेता है, अथवा चोर लोग चुरा ले जाते हैं। इसके अतिरिक्त कदाचित् धर्मकी अधिक हानि देखकर सबसे छोटे भाई जिनका नाम अग्नि है, आगये तो रही सही सब निबटाकर क्षणमात्रमें चल देते हैं। स तरह दान-धर्मके न होनेसे मनुष्यके पीछे विविध प्रकारकी आधियाँ और व्याधियाँ लगी रहती हैं, इसलिये सभीको यथाशक्ति दान करना चाहिये ।।१७।।

यदासन्नस्वभावेन विष्णुं वा रुद्रमेव वा ।
यथाशक्त्यर्चयेद्भक्त्या ह्येतदीश्वरपूजनम् ।। १८ ।।

—याज्ञवल्क्य.

(५) **ईश्वरपूजन**—मनमें ईश्वरका अस्तित्व मानकर विष्णु, शंकर अथवा किसी भी एक अपने अभीष्ट देवका प्रेमपूर्वक यथाशक्ति पूजन करना ईश्वरपूजन' कहाता है। विश्वाससे जब साकार मूर्तिकी अर्चना की जाती है तभी निराकार ब्रह्मका और जीवका साक्षात्कार होता है, परन्तु आजकल बहुतेरे नयी रोशनीके बाबू लोग मूर्तिपूजनके खण्डनमें ही रातदिन पच पचकर मरा करते हैं। करें क्या, इस विषयमें इन आधुनिक सभ्यतामें रँगे हुए लोगोंका वास्तविक दोष नहीं है, यह सब दोष वर्तमान शिक्षाप्रणालीका है जो इन्हें दिनोंदिन अधिकाधिक पतनकी ओर ढकेले जा रही है। यदि इन्हें विदेशीय शिक्षा द्वारा बाल्यकालसे ही धर्मकर्मकी ओरसे तिलाञ्जलि न दिला दी जाती तो इस तरह सुधारके नामपर अर्थका अनर्थ न होने पाता। इसलिये अब अपने भावी सन्तानोंको संस्कृत साहित्यका अध्ययन, एवं शुद्ध सनातन धर्मकी शिक्षा देनेका प्रयत्न सभी विचारशील मनुष्योंको करना चाहिये ताकि वे समुचित मार्गपर चलकर ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुखके भोक्ता बन सकें ।।

सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं वेदान्तश्रवणं बुधैः ।। २० ।।

(६) **सिद्धान्तश्रवण**—पण्डितोंने वेदान्त विषयक ग्रन्थोंके सुननेका नाम 'सिद्धान्तश्रवण' बताया है। यद्यपि सिद्धान्तश्रवणका वाच्यार्थ वेदान्त-श्रवण नहीं होता क्योंकि सबके सिद्धान्त भिन्न २ हुआ करते हैं, परन्तु मुक्ति-मार्गके लिये एक वेदांतश्रवण ही उपयोगी है इसलिये वेदान्तश्रवण ही अर्थ होता है।। २०।।

वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत् ।
तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीस्तु सैव प्रकीर्तिता ।। २१ ।।

(७) **ह्री**—वैदिक अथवा लौकिक मार्गमें अनुचित कर्म हो जानेके कारण मनमें जो लज्जा उत्पन्न होती है उसे 'ह्री' कहते हैं।। २१ ।।

विहितेषु च कार्येषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत् ।। २२ ।।

(८) **मति**—विहित कर्मोंके करनेकी जो मनमें श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे 'मति' कहते हैं। यानी वेदविहित योगादि सत्कर्मोंके विषयमें जो संशय विपर्यय रहित श्रद्धा है वही ,मति' कहाती है।। २२ ।।

गुरुणा चोपदिष्टोऽपि वेदबाह्यविवर्जितः ।
विधिनोक्तेन मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः ।। २३।।

—याज्ञवल्क्य.

(९) **'जप**—वेदोक्त मन्त्रोंको सद्‌गुरु द्वारा सीखकर उनका अभ्यास करना 'जप' कहाता है।। २३ ।।

और भी—

अधीत्य वेदं सूत्रं वा पुराणं वेतिहासकम् ।
एतेष्वभ्यसतस्तस्य अभ्यासेन जपः स्मृतः ।। २४ ।।

श्रीगुरु द्वारा वेद, ब्रह्मसूत्र, पुराण अथवा महाभारत इतिहास आदि सच्छास्त्रोंका अध्ययनपूर्वक अभ्यास करना भी जप कहाता है।। २४ ।।

योगसूत्रकारने जपके स्थानपर 'स्वाध्याय' माना है और उसका लक्षण व्यासदेवने इस प्रकार लिखा है :—

(श्रीकपिलदेवजीके श्रीमुख द्वारा)

१—"जपके कवचको सर्वदा निज चित्तपर धारण करे।
जपके प्रखरतर खड्गसे मन शत्रुको वारण करे।।
सम्पत्तिमें आपत्तिमें मम नाम जपना चाहिये।
सब काल सब ही ठौर बस जपको न तजना चाहिये।।"

—दिनेश.

मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा ।। २५ ।।

—व्यास.

मोक्षपद दिलानेवाले शास्त्रोंका पढ़ना (अभ्यास करना) अथवा ओंकारका जप करना 'स्वाध्याय' कहाता है ।। २५ ।।

जपका साधारण नियम यह है कि :—

जपस्येह विधिं वक्ष्ये यथाकार्यं विधानतः ।
नाङ्गं कम्पन्नापि हसन्न पार्श्वमवलोकयेत् ।। २६ ।।

—याज्ञवल्क्य.

जप करते समय न तो मार्ग चले और न शरीर कँपाये, एवं हँसना तथा अपनी अगल बगल (इधर उधर) देखना भी नहीं चाहिये ।। २६ ।।

और—

नापाश्रितो न जल्पंश्च न प्रावृतशिरास्तथा ।
न पदा पदमाक्रम्य न चैव हि तथा करौ ।। २७ ।।
नैवंविधं जपं कुर्यान्न च संश्रावयन् जपेत् ।

—याज्ञवल्क्य.

जप करते समय यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि न तो किसी वस्तुके सहारे बैटकर जप करे और न किसी किसीसे बीच बीचमें बात ही किया करे। ऐसे ही न तो उस समय किसी अँगौछे, उपरने आदिसे शिर ढके रहे और न परस्पर दोनों पैरों अथवा हाथोंका संघर्षण ही किया करे। जप करते समय अपने उपास्य मंत्रका उच्चारण इस प्रकार होना चाहिये कि पार्श्ववर्ती लोग कुछ भी न सुन सकें। यदि खडे होकर जप करना चाहे तो सूर्यनारायणके सामने खड़ा होकर उनकी ओर मनका लक्ष पहुँचाते हुए अभीष्ट मंत्रका जप करे और बैठकर जपना हो तो पूर्व (अथवा उत्तर) दिशाकी ओर मुख करके जप करे ।। २७–२८ ।।

एवं—

नियमेन जपं कुर्यादकृतौ प्रत्यवायतः ।
अन्यथाकरणेऽनर्थः स्वरवर्णविपर्ययात् ।। २९ ।।

—पंचदशी.

जप नियमसे करना चाहिये और न करनेसे प्रत्यवाय (दुःख) होता है इसलिये अवश्य करना चाहिये। जपमें इस बातकी बड़ी सावधानी रखनी होती है कि कहीं मंत्रके स्वर और वर्णके उच्चारण ऐसे न हो जायँ कि अप

अपने नियमसे विपरीत होते हों। क्योंकि स्वर अथवा वर्णके उच्चारण सनियम न होनेसे अनर्थकारी परिणाम होता है ॥

ऐसे ही और भी लिखा है–

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा,
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति,
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ ३० ॥

—पाणिनीयशिक्षा.

मन्त्र यदि स्वर अथवा वर्णके नियमसे विरुद्ध उच्चरित होता है तो वह अपने अर्थको न सिद्धकर अपने शत्रुका कार्य सिद्ध कर देता है। उदाहरण— जैसे 'इन्द्र-शत्रुर्विवर्धस्व।' इस मंत्रके जप करते समय स्वरका उच्चारण सनियम न होनेके कारण ही तो उलटी घटना घटी थी बात यह हुई कि मंत्रका जप तो वृत्रासुरकी ओरसे होता था और ऊहित मंत्र था—'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व।' इस यौगिक मन्त्रमें अन्तोदात्त स्वर उच्चरित होना चाहिये था, जिससे कि 'इन्द्रस्य शमयिना शातयिता भव' यह अर्थ सिद्ध होता, परन्तु उच्चारण हुआ आद्योदात्तका। इसलिये–'इन्द्र एव वृत्रस्य शातयिता सम्पन्नः।' यानी उलटा इन्द्रदेव ही वृत्रासुरके घातक सिद्ध हुए। अतः—जप करनेवालोंको चाहिये कि जप प्रारम्भ करनेके पहले वे मन्त्रोंके वर्ण और स्वर—उच्चारणके नियम अपने सद्‌गुरुसे ध्यान धरकर अवश्य सीख लें; अन्यथा मन्त्रका जप अभीष्ट फलदायी नहीं हो सकता। यही कारण है कि आज वर्तमान समयमें जो श्रद्धालु सज्जन लोग अनुष्ठानादि कर्म करते कराते हैं उनसे कल्याण होनेके स्थान पर शिरपर वज्रपात होने लगते हैं। कारण यह है कि प्रायः आजकल न तो मन्त्रोंके उच्चारण करनेके समस्त नियमोंके जाननेवाले ही हैं और जो जाननेवाले हैं भी वे सनियम करते ही नहीं और सबसे बड़ी बात यह भी है कि अव श्रद्धापूर्वक सनियम 'मंत्र–जप' करानेवाले भी नहीं रह गये। इस अवस्थामें जब कि मंत्रका जप सनियम किये ही नहीं जाते तो वे करने और करानेवालोंके अनुकूल फलके देनेवाले कैसे हो सकते हैं? यहाँ यह स्पष्ट कह देना सबका सारांश है कि आज भी यदि करने और करानेवाले साधक अपने अपने नियमोंको रखकर मंत्रका जप करें अथवा करायें तो अवश्य शुभफलके भागी बन सकते हैं ॥ ३० ॥

मन्त्रजपके विषयमें—

नोच्चजपं च संकुर्यात् रहः कुर्यादतन्द्रितः।

समाहितमनास्तूष्णीं मनसा वापि चिन्तयेत् ।। ३१ ।।

—अग्निपुराण.

अग्निपुराण में भी लिखा है कि एकान्तमें निरालस्य होकर (आसनपर बैठकर) सावधानीके साथ धीरे धीरे मन लगाकर जप करना चाहिये ।। ३१ ।।

उपांशु जपका महत्त्व—

शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ च चालयेत् ।
अपरैर्न श्रुतः किंचित्स उपांशुर्जपः स्मृतः ।। ३२ ।।

—विश्वामित्र.

विश्वामित्रजीने लिखा है कि—जीभ और ओठोंको हिलाता हुआ धीरे धीरे मन्त्रका जप इस प्रकार करना चाहिये कि दूसरा कोई कुछ भी न सुन सके। इसीका नाम 'उपांशु' है ।। ३२ ।।

जपमें उत्तरोत्तर फलाधिक्य—

उच्चैर्जपादुपांशुस्तु सहस्रगुण उच्यते ।
मानसश्च तथोपांशोः सहस्रगुण उच्यते ।।
मानसाच्च तथा ध्यानं सहस्रगुणमुच्यते ।। ३३ ।।

जिसे पार्श्ववर्ती जन सुन जायें ऐसे जपकी अपेक्षा हजार गुना अधिक फल देनेवाला 'उपांशु' जप होता है और उपांशुसे हजार गुना अधिक फल 'मानस' जप द्वारा होता है। और मानस जपसे भी हजार गुना अधिक फल 'ध्यान' से प्राप्त होता है। आशय यह कि जितनी मात्रामें चित्तवृत्तियां तदाकार होती हैं उतनी ही मात्रामें फल भी प्राप्त होता है। उपांशु जपकी अपेक्षा मानस जपमें चित्तकी वृत्तियोंका अधिक संकोच होता है। इसीसे अधिक फल भी होता है। ऐसे ही मानस जपकी अपेक्षा ध्यानमें तदाकारताकी मात्रा अधिक रहती है इस लिये ध्यानमें अधिक फल मिलता है।

उपरोक्त कथनसे यह सिद्ध हो गया कि जप चाहे सकाम हो अथवा निष्काम, पर चित्त—वृत्तियोंका एकाग्र होना परम आवश्यक है, क्योंकि जबतक चित्त एकाग्र करके मंत्राधिष्ठातृ देवका चिन्तन करते हुए सनियम मंत्रका उच्चारण नहीं किया जाता तब तक अच्छे फलका लाभ कदापि नहीं हो सकता। हाँ, यह हो सकता है कि मंत्रके अधिनायक देवका यथोचित सत्कार न होनेके कारण उनकी उलटी दृष्टिसे उलटा और भी कुछ अनर्थ होने लग जाय। इसलिये कर्ता और कारयिता दोनों यदि अपने अपने कल्याणके इच्छुक हों तो उन्हें चाहिये कि सनिगम मंत्र—जप होनेका प्रयत्न करें। अन्यथा पुण्यका हिस्सा नहींके बराबर होकर पापकेही विशेष हिस्सेमें आ जाते हैं। अस्तु, यहाँ

कहनेका सारांश—यही है कि मंत्र और मंत्र-जप सच्चे होते हैं, पर कर्ता और कारयिता सच्चे नहीं होते। इसीसे दोनोंका कल्याण नहीं होता ।। ३३ ।

हुतं हुताशनस्योक्तं समिधाद्यैः प्रतर्पणम् ।। ३४ ।।

(१०) **हुत**—अग्निदेवको समिध आदि पदार्थों द्वारा तृप्त करना 'हुत' कहाता है। इन लक्षणमें यौगिक और लौकिक दोनों अग्नियोंमें हवन करनेकी बात बता दी गई है। यौगिक हवनमें तो मनसहित दशों इन्द्रियोंको शब्दादि विषयोंकी ओरसे हटाकर ब्रह्मरूप अग्निमें समिधरूपसे हवन होता है और लौकिक हवनमें यव, तिल, घृत आदि समिधोंका हवन प्रत्यक्ष अग्निमें होता है। लक्षणमें यौगिक अथवा लौकिक विशेषण हुताशन और समिधमें नहीं हैं इसलिये दोनों अर्थ सिद्ध होते हैं ।। ३४ ।।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
अदित्याज्जायतेवृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।। ३५ ।।

हवनसे लाभ—यह होता है कि अग्निमें हवन करनेसे सूर्यनारायण प्रसन्न हो जाते हैं इसलिये वे पानी बरसाते हैं। उसी पानीके बरसनेसे अन्न उत्पन्न होता है और अन्नसे सारी प्रजाओंका रक्षण होता है ।। ३५ ।।

प्रकरणका उपसंहार ।

एते यमाः सनियमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विशिष्टफलदाः काम्या निष्कामानां विमुक्तिदाः ।।

इस तरह उपोद्घात प्रकरणके बाद प्रथम और द्वितीय सोपान जो 'पञ्च-पञ्च' पांच पांच, अथवा दश-दश भेदवाले यम तथा नियमका निरूपण किया गया है वह सविधि अनुष्ठित होनेपर कामनावालोंके लिये काम्यफलको देनेवाला है और निष्काम जनोंको मुक्ति देनेवाला है ।। ३६ ।।

इति श्रीपण्डित शिवनाथशर्मात्मज-पं० रामनरेशमिश्र 'प्रेम' विरचिते भाषाटीकायुते बृहद्योगसोपाने द्वितीयसोपान-प्रकरणं समाप्तम् ।।

अथ तृतीयसोपान प्रकरण

आसनका लक्षण

स्थिरसुखमासनम् ।। १ ।।

—योगदर्शन

जिस तरह बैठनेमें शरीरकी स्थिरता सुखपूर्वक रहे उसे 'आसान' कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं, परन्तु योगाचार्य सूत्रकारके कथनानुसार किसी भी

आसनसे अपनी रुचिके अनुकूल बैठना चाहिये, क्योंकि जिसमें मनको शरीरमें पीडा आदिकी प्रतीति न हो वही आसन कहाता है ।। १ ।।

आसनकी संख्या

आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवजन्तवः ।
चतुरशीतिलक्षाणि, शिवेन कथितानि वै ।। २ ।।
तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनं शतं कृतम् ।
तेषां मध्ये मर्त्यलोके द्वात्रिंशदासनं शुभम् ।। ३ ।।

—घेरण्डसंहिता.

संसारमें जितने जीव जन्तु हैं उतने ही आसन भी होते हैं, इसीलिये पहिले तो श्रीशंकरजीने चौरासी लाख आसनोंका निरूपण किया था; पर उनमेंसे उन्होंने चौरासी आसन मुख्यरूपसे वर्णन किये हैं और उनमें भी बत्तीस आसन विशेष लाभकारक हैं ।। २ ।। ३ ।।

बत्तीस आसनों के फलसहित लक्षण निम्नलिखित हैं ।—

सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम् ।
सिंहं च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च ।। ४ ।।
मृतं गुप्तं तथा मत्स्यं मत्स्येन्द्रासनकं तथा ।
गोरक्ष पश्चिमोत्तानमुत्कटं संकटं तथा ।। ५ ।।
मयूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकम् ।
उत्तान-मण्डुकं वृक्षं मण्डूकं गरुडं वृषम् ।। ६ ।।
शलभं मकरं तूष्ट्रं भुजङ्गं चैव योगकम् ।
मर्त्यलोके सिद्धिदानि द्वात्रिंशदासनानि हि ।। ७ ।।

इस मृत्युलोकमें योगसाधन--मार्गके उपयोगी बत्तीस आसनोंके नाम ये हैं—१ सिद्धासन, २ पद्मासन, ३ भद्रासन, ४ मुक्तासन, ५ वज्रासन, ६ स्वस्तिकासन, ७ सिंहासन, ८ गोमुखासन, ९ वीरासन, १० धनुरासन, ११ मृतासन, १२ गुप्तासन, १३ मत्स्यासन, १४ मत्स्येन्द्रासन, १५ गोरक्षासन, १६ पश्चिमोत्तानासन, १७ उत्कटासन, १८ संकटासन, १९ मयूरासन, २० कुक्कुटासन, २१ कूर्मासन, २२ उत्तानकूर्मासन, २३ उत्तानमण्डूकासन, २४

---

१ हठयोगप्रदीपिकामें महात्मा स्वात्मारामजीने सोलह आसन लिखे हैं और गोरक्ष-पद्धतिने केवल दो ही आसनोंको उपयोगी माना है। ऐसे ही और भी योगके ग्रन्थोंमें कहीं कुछ न्यूनाधिक माने हैं, परन्तु घेरण्डसंहिताकारने जो बत्तीस आसनोंका उल्लेख किया है उनका ही उद्धरण इस ग्रन्थमें किया गया है।

वृक्षासन, २५ मण्डूकासन, २६ गरुडासन, २७ वृषासन, २८ शलभासन, २९ मकरासन, ३० उष्ट्रासन, ३१ भुजङ्गासन, और ३२ योगासन ॥ ४-७ ॥

(१) सिद्धासनका लक्षण

योनिस्थानमनङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ।
स्थाणुः संयतमिन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ८ ॥

गुदा और लिंगके मध्यभाग (योनिस्थान) में बायें पैरकी एंड़ी लगाकर दाहिने पैरको लिंग (योनि) के ऊपरी भागपर रखे और हृदयके समीप भागमें दृढ़तापूर्वक हनु (ठोड़ी) को स्थिर कर इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर निश्चल दृष्टिसे भ्रुकुटिके मध्यभागको देखता रहे। इसीका नाम महर्षियोंने 'सिद्धासन' रखा है। इसके प्रभावसे मोक्षस्थानमें जो मायाका किवाड़ लगा रहता है वह खुल जाता है ॥ ८ ॥

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ।
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ ९ ॥

फल--चौरासी लक्ष आसनोंमेंसे मुख्य २ अधिक उपयोगी चौरासी आसनोंका निरूपण श्रीशंकरजीने किया है, पर उनमें यह सिद्धासन अधिक

लाभकारक हैं, क्योंकि इसके प्रभावसे शरीरगत बहत्तर हजार नाड़ियोंका शोधन हो जाता है। जब तक नाडियोंका शोधन नहीं हो लेता तबतक प्राणायामादि क्रियाएँ नहीं संपन्न हो सकतीं और इस आसनसे नाडियाँ शुद्ध हो जाती हैं इसलिये यह मोक्षदायक हैं ॥ ९ ॥

(२) पद्मासनका लक्षण

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा,
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविकारनाशनपरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥ १० ॥

वाम जंघाके मूलमें दाहिना पैर और दाहिनी जंघाके मूलमें बायाँ पैर उत्तान करके दृढ स्थापित कर दे। फिर पीठकी ओरसे हाथोंको ले जाकर दोनों पैरोंके अँगूठोंको पकड़ ले और चिबुक (ठोडी) को हृदयस्थल पर स्थापित करके नासिकाके अग्रभागको देखता रहे। इस प्रकारके आसनका नाम 'पद्मासन' है।

फल—यह होता है कि पद्मासनके लगानेसे शरीर नीरोग होता है और प्राणायामकी क्रियाओंमें सहायता मिलती है॥ १० ॥

(३) भद्रासनका लक्षण

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितः।
पदाङ्गुष्ठे कराभ्यां च धृत्वा च पृष्ठदेशतः ।। ११ ।।
जालन्धरं समासाद्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशकम् ।। १२ ।।

—घेरण्डसं०

अंडकोशको उलटकर उसके नीचे दोनों एड़ियोंको रख दे, फिर दोनों हाथोंको पीठकी ओरसे लेजाकर दोनों पैरोंके अँगूठोंको दृढ पकड़ ले। और (वक्ष्यमाण) जालंधर बन्धको लगाकर नासिकाके अग्रभागको देखता रहे। इस तरहके आसनको 'भद्रासन,' कहते हैं।

फल——इससे यह मिलता है कि इस आसनको लगाकर सो जानेपर स्वप्न-दोष नहीं हो पाता। और इसके प्रभावसे शरीरगत समस्त रोगोंका नाश होता है।। ११ ।। -१२ ।।

(४) मुक्तासनका लक्षण

पायुमूले वामगुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि ।
शिरोग्रीवासमं कायं मुक्तासनमिदं शुभम् ।।१ ३ ।।

---

१ हठयोगप्रदीपिकाकारके मतसे 'भद्रासन' और 'गोरक्षासन' एक ही है पर घेरण्ड-संहिताकार दो मानते हैं। वास्तवमें दो भेद मानना भी चाहिये, क्योंकि जब भद्रासनका लक्षण दो प्रकारका श्रीस्वात्मारामजी लिखकर दोनोंको एक बताते हैं तो उन दोनों लक्षणोंका पृथक् पृथक् नामकरण कर देना यानी एकको भद्रासन, एकको गोरक्षासन कहना क्या अनुचित है?।

बाया एंड़ीको गुदाके मूलम लगाकर उसके ऊपर दाहिनी एंड़ी दृढ़ स्थापित कर दे और शिर तथा कंठ निश्चल समान (सीधा) रखे। इसका नाम 'मुक्तासन' है और यह योगसाधकोंको लाभकारक है ।। १३ ।।

(५) वज्रासनका लक्षण ।

जङ्घाभ्यां वज्रवत्कृत्वा गुदपार्श्वे पदावुभौ ।
वज्रासनं भवेदेतद्योगिनां सिद्धिदायकम् ।। १४ ।।

दोनों जंघाओंको वज्रके समान करके दोनोंपैरोंके तलवोंको गुदाके

पार्श्वभागमें रखकर बैठनेका नाम 'वज्रासन' है। यह योगियोंको सिद्धिदायक है ।। १४ ।।

(६) स्वस्तिकासनका लक्षण

जानूर्वोरन्तरे कृत्वा योगी पादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ।। १५ ।।

जानु और ऊरुके बीच दोनों पैरोंके तलवोंको लगा दे और दोनों हाथोंके तलवोंको दोनों जानुओं पर स्थास्थापित कर शरीरको सीधा करके बैठे तो इसीका नाम 'स्वस्तिकासन' है ।। १५ ।।

(७) सिंहासनका लक्षण

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
दक्षिणे सव्यगुल्फं च दक्षगुल्फं तु सव्यके ।। १६ ।।

हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीः संप्रसार्य च ।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ।। १७ ।।

सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः ।।
बन्धत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ।। १८ ।।
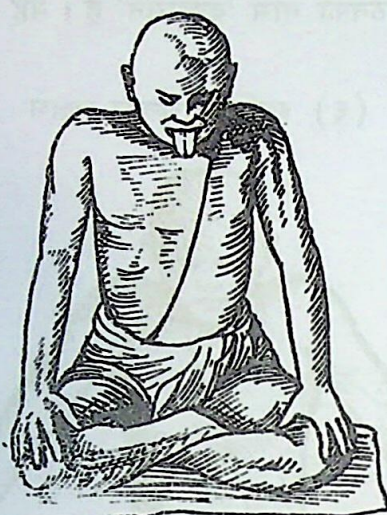
हठयोग प्रदीपिकामें लिखा है कि—दोनों गुल्फोंको अण्डकोशके नीचे सीवनी नाडीके दोनों पार्श्वभागोंमें लगाये, यानी दाहिने पार्श्वमें वाम गुल्फको, एवं बायें पार्श्वमें दाहिने गुल्फको लगाये। फिर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको पसारकर जंघाओंपर रखे और चञ्चल चलायमान जिह्वावाले मुखको फैलाकर बड़ी सावधानीके साथ अपनी नासिकाके अग्रभागको देखे। इस प्रकारके आसनको 'सिंहासन' कहते हैं। यह वक्ष्यमाण तीनों बन्धोंको सिद्ध करनेवाला है इसलिये सब आसनोंमें उत्तम माना गया है ॥ १६–१८ ॥

(८) गोमुखासनका लक्षण

असव्ये पृष्ठपार्श्वे तु वामगुल्मं नियोजयेत् ।
सव्ये सव्यं तथा गुल्मं गोमुखं गोमुखाकृतेः ।। १९ ।।
ऊर्ध्वतो दक्षिणं हस्तं पृष्ठदेशे नयेत्तथा ।।
अधस्तात्सव्यहस्तं तु तर्जन्या तर्जनीं भियात् ।। २० ।।

दाहिने पृष्ठपार्श्व (चूतड़) के नीचे बायें पैरके गुल्फ (गाँठ) को और बाँयें पृष्ठपार्श्वके नीचे दाहिने पैरके गुल्फको रखकर तथा दाहिने हाथको शिरकी ओरसे, एवं बाँयें हाथको नीचेकी ओरसे पीठपर ले जाकर दाहिनी तर्जनी (अँगूठेके बगलवाली अँगुली) से बायीं तर्जनीको दृढ़तापूर्वक पकड़ ले। इस प्रकारके आसनको गौके मुखके समान होनेके कारण 'गोमुखासन' कहते हैं।

फल—इस आसन द्वारा अपान वायु ऊर्ध्वगामी होता है और प्राणवायु अधोगामी होता है। एवं चित्तको शान्ति प्राप्त होती है।। १९ ।। २० ।।

(९) वीरासनका लक्षण
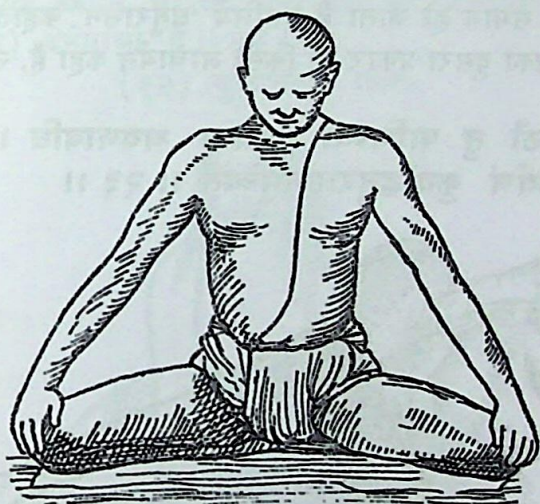
एकपादमथैकस्मिन्विन्यसेदूरुमध्यमे ।
इतरस्मिस्तथा पश्चाद्वीरासनमितीरितम् ।। २१ ।।

दाहिना पैर बांयीं जंघापर और बायें पैरको दाहिनी जंघापर रखकर दोनों हाथोंको घुटनोंपर रखे। गोरक्षसंहिताकार इसे 'वीरासन' कहते हैं।। २१ ।।

(१०) धनुरासनका लक्षण
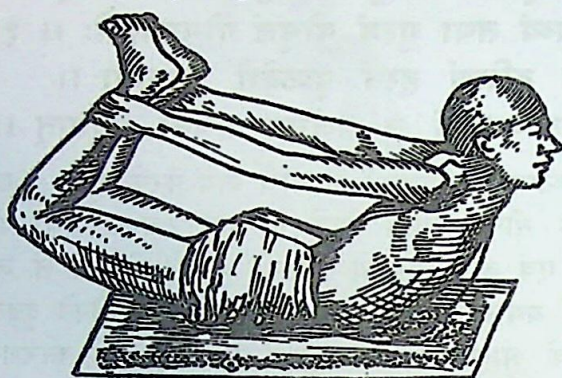
प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ करौ च पृष्ठे धृतपादयुग्मम् ।
कृत्वा धनुस्तुल्यविवर्तिताङ्गं निधाय योगी धनुरासनं तत् ।।२२।।

जमीनमें दोनों पैर फैलाकर पट होकर दंडाकार लेट जाय और घुटनों परसे दोनों पैर मोडकर दोनों हाथोंको पीठकी ओरसे ले जाकर पैरोंको पकड़ ले। यह धनुषके समान हो जाता है इसलिये 'धनुरासन' कहाता है ।। २२ ।।

इसका दूसरा प्रकार भी किसी आचार्यने कहा है, उसे भी अवलोकन करिये :—

पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ।। २३ ।।
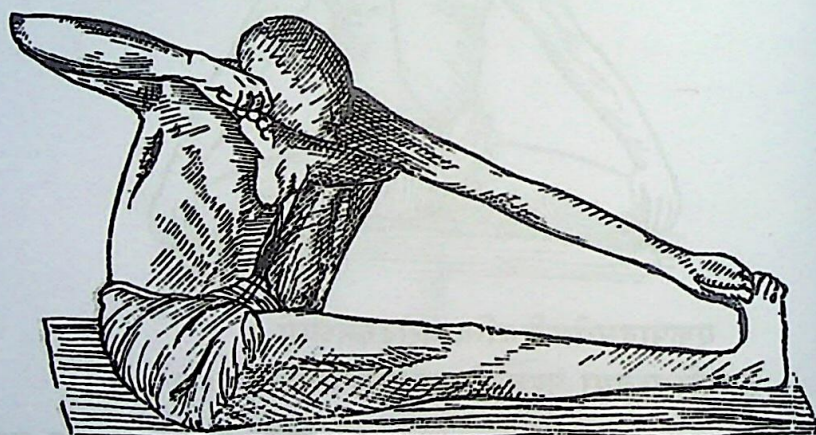
बांयें पैरके अँगूठेको दाहिने कानके समीप ले जाकर दाहिने हाथ की अंगुलियोंसे पकड़ ले और दाहिने पैरकों दंडेके समान फैलाकर बांयें हाथ से

अंगूठेको दृढ पकड़े रहे। यह धनुषपर वाण रखकर कानतक खींचनेके समान हो जाता है इसलिये 'धनुरासन' कहाता है॥ २३॥

(११) मृतासनका लक्षण
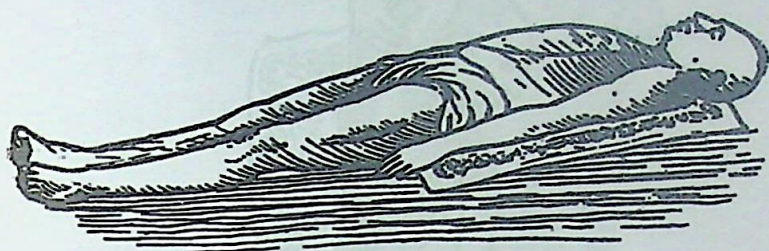
उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तु शवासनम्।
शवासनं श्रमहरं चित्तविश्रान्तिकारकम्॥ २४॥

भूमिपर उत्तान (चित्त) मुरदेके समान दण्डाकार लेट जानेका नाम 'शवासन' अथवा 'मृतासन' है। किसी किसी आचार्यके मतमें इसीका नाम 'प्रेतासन' 'शान्तिप्रदासन' और 'शयनासन' भी है।

फल—यह आसन शरीरके थकावटको दूर करनेवाला, एवं चित्तको विश्राम (सुख) देनेवाला है॥ २४॥

(१२) गुप्तासनका लक्षण
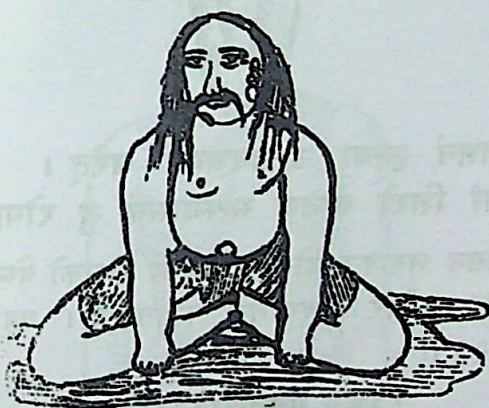
जानुनोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत्।
पादोपरि तु संस्थाप्य गुदं गुप्तासनं विदुः॥ २५॥

दोनों घुटनोंके बीच दोनों पैरोंको रखकर पैरोंके ऊपर गुदाको रखकर बैठनेका नाम 'गुप्तासन' कहा गया है। इसमें दोनों पैर गुप्त रहते हैं अर्थात् नहीं दीखते इसलिये यह 'गुप्तासन' कहाता है॥ २५॥

(१३) मत्स्यासनका लक्षण

मुक्तपद्मासनं कृत्वा उत्तानशयनं चरेत् ।
कूर्पराभ्यां शिरो वेष्टय मत्स्यासनं तु रोगहृत् ।२६ ।।

मुक्त पद्मासन लगाकर दोनों कोपड़ोंसे शिरको वेष्टन (बांध) कर उत्तान होकर लेट जानेपर 'मत्स्यासन' कहाता है। यह समस्त रोगोंको हटानेवाला है ।। २६ ।।

(१४) मत्स्येन्द्रासनका लक्षण

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम् ।
प्रगृह्यतिष्ठेत्परिवर्तिताङ्गः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ।।२७।।

बायीं जंघाके मूलमें दाहिने पैरको रखकर जानुके वाहर वायें पैरपर हाथधर वामभागसे पीठकी ओर मुख करके बैठनेका नाम 'मत्स्येन्द्रासन' है।

फल---इस आसनके अभ्यासस जठराग्नि प्रदीप्त होती है और रोग बहुत ही असाध्य क्यों न हों परन्तु उनके खण्डन करनेके लिये यह रामबाण ही है। इसके अतिरिक्त इसमें यह भी गुण है कि कुण्डलिनी शक्तिका जागरण होकर मस्तिष्कमें अमोघ आनन्द देनेवाला अमृत स्थिर हो जाता है ॥ २७ ॥

(१५) गोरक्षासनका लक्षण

जानूर्वोरन्तरे पादवुत्तानाव्यक्तसंस्थितौ ।
गुल्फौ चासाद्य हस्ताभ्यामुत्तानाभ्यां प्रयत्नतः ।। २८ ।।

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा नासाग्रमवलोकयेत् ।
गोरक्षासनमित्याह योगिनां सिद्धिकारणम् ।। २९ ।।

दोनों जंघाओं और पिंडुरियोंके बीच दोनों पैरोंको उत्तान करके गुप्त भावसे रखे । फिर पीठकी ओरसे चित्त हाथोंसे गुल्फोंको सावधानतासे पकड़कर कण्ठको सिकोड़ करके नासिकाके अग्रभागको देखता रहे । यह योगसाधकोंको सिद्धि देनेवाला 'गोरक्षासन' कहाता है ।। २८–२९ ।।

(१६) पश्चिमोत्तानासनका लक्षण
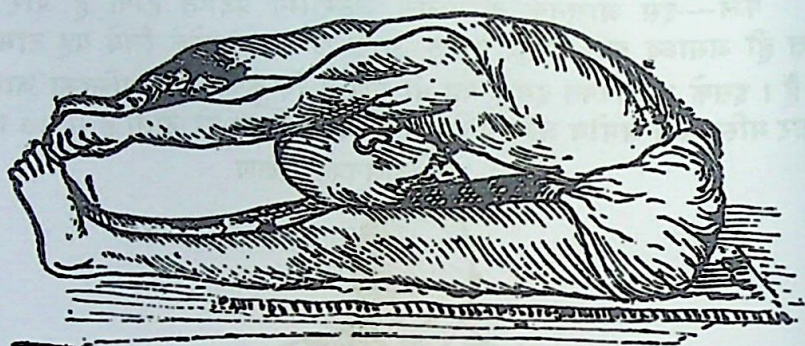
प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ
दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ।।
जानूपरि न्यस्तललाटदेशो,
वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ।। ३० ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

भूमिपर दोनों पैरोंको दण्डाकार फैलाकर दोनों हाथोंसे पैरोंके अँगूठोंको पकड़ ले, और जानुओंके ऊपर मस्तकको रख दे । इस प्रकारके आसनका नाम 'पश्चिमोत्ता[१]न' है ।। ३० ।।

---

१ शिवसंहिताने इसे 'उग्रासन' बताया है ।

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं
पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ।
उदयं जठरानलस्य कुर्या-
दुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् ।। ३१ ।।

फल—इस आसनसे प्राणवायुका सुषुम्णानाडीमें वहन होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है, उदरका मध्यभाग कृश होता है और नीरोगता प्राप्त होती है ।। ३१ ।।

(१८) उत्कटासनका लक्षण
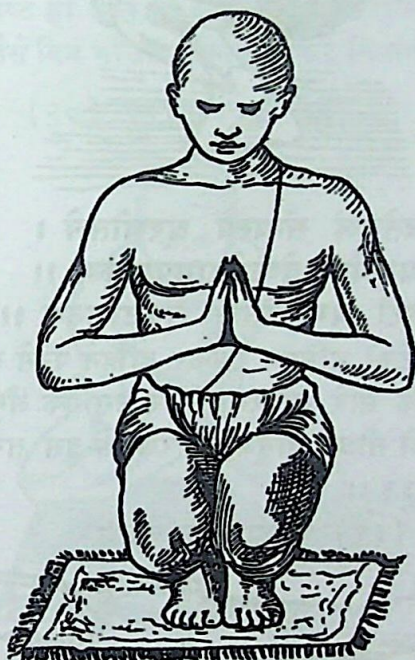
अङ्गुष्ठाभ्यामवष्टभ्य धरांगुल्फे च खे गतौ ।
तत्रोपरि गुदं न्यस्य विज्ञेयमुत्कटासनम् ।। ३२ ।।

दोनों पैरोंके अंगूठोंको भूमिपर टिका दे और दोनों एड़ियोंको ऊपरको उठाकर उनपर गुदाको दृढ़ स्थापित कर दे। इस आसनका नाम 'उत्कटासन' है ।। ३२ ।।

(१८) संकटासनका लक्षण

वामपादं चितेर्मूलं संन्यस्य धरणीतले ।
पाददण्डेन याम्येन वेष्टयेद्वामपादकम् ।।
जानुयुग्मे करौ युग्मावेतत्तु संकटासनम् ।। ३३ ।।

बायें पैरके अँगूठेको भूमिपर रखकर दाहिने पैरसे बायें पैरको लपेटकर इस प्रकार बैठा रहे कि सारे शरीरका भार उस एक अँगूठेपर ही निर्भर रहे और दोनों हथेलियोंको सीधा जानुओंपर रख ले इस तरहके आसनको 'संकटासन' कहते हैं ।। ३३ ।।

(१९) मयूरासनका लक्षण
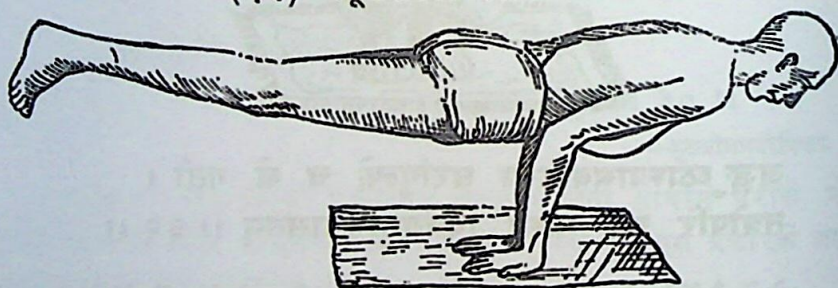
धरामवष्टभ्य करद्वयेन,
तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ।

उच्चासनो दण्डवदुत्थितः खे,
मायूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम् ॥ ३४ ॥

दोनों हाथोंके तलुओंको भूमिपर टेककर दोनों कोपरोंको नाभिकी बगलमें दृढ़ स्थापित कर दे और दोनों पैरोंको फैलाकर ऊंचे आसनसे दण्डेके समान आकाशमें देहको उठाये रहे। इस प्रकारके आसनका नाम 'मयूरासन' है ॥ ३४ ॥

मायूरं हरते शीघ्रं रोगान्गुल्मोदरादिकान्।
हन्त्येतद्भिषजां बाधां जठराग्निप्रवर्धनम् ॥ ३५ ॥

फल—इस मयूरासनके अभ्याससे एक गुल्म ही नहीं किन्तु समस्त उदरसम्बन्धी रोग नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि यह जठराग्निको इतना प्रबल कर देता है कि कालकूट जैसे विष भीउस अग्निमें पड़कर निःसत्त्व हो जाता है ॥३५॥

(२०) कुक्कुटासनका लक्षण

पद्मासनं समासाद्य जानूर्वोरन्तरे करौ।
कूर्पराभ्यां समासीनो मञ्चस्थः कुक्कुटासनम् ॥ ३६ ॥

पहले पद्मासन लगाकर फिर दोनों जंघाओं और पिंडुरियोंके बीचमेंसे दोनों हाथोंको कोहनी तक नीचेकी ओर ले जाकर भूमिपर दोनों हथेलियोंको टेक दे और उन्हींके आधारस्थिर होकर बैठा रहे। इसे 'कुक्कुटासन' कहते हैं ॥ ३६ ॥

(२१) कूर्मासनका लक्षण

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितौ ।
ऋजुकायशिरोग्रीवं कूर्मासनमितीरितम् ।। ३७ ।।

दोनों गुल्फों (गाँठों) को अण्डकोशके नीचे बड़ी सावधानीसे उलटकर दृढ स्थिर रखकर दोनों जानुओंको जमीनपर टेककर बैठ जाय और दोनों हथेलियोंके पृष्ठ भागको दोनों काँखोंमें लगाकर शेष शरीरसे सीधा होकर बैठा रहे यह आसन कूर्म (कछुहे) के समान होनेके कारण 'कूर्मासन' कहलाता है ।। ३७ ।।

दूसरा प्रकार

कुक्कुटासनमध्यास्य उरो भूमौ निधाय च ।
ऊर्ध्वं कृत्वा शिरश्चैव पुरोभागे विलोकयेत् ।। ३८ ।।
हस्तद्वयं विनिस्सार्य कुक्षिमध्ये निधापयेत् ।
कूर्पराभ्यां स्पृशेज्जानु कर्मासनमिदं शुभम् ।। ३९ ।।

पहले कुक्कुटासनको लगाकर अपनी छातीको भूमिमें लिभेड़कर शिर ऊँचाकर ले और सामनेकी ओर देखता रहे। फिर दोनों जानुओंके बीचस हाथोंको निकालकर बायीं हथेलीको बायीं कूखमें और दाहिनी हथेलीको दाहिनी कूखमें लगाकर दोनों कोहनियोंको जानुपर दृढ स्थिर कर दे। किसी एक महात्माके मतमें इस प्रकारका भी 'कूर्मासन' होता है।। ३८–३९ ।।

(२२) उत्तानकूर्मासनका लक्षण

कुक्कुटासनबन्धस्थं कराभ्यां धृतकन्धरम् ।
पीठं कूर्मवदुत्थानमेतदुत्तानकूर्मकम ।। ४० ।।

पहले कुक्कुटासनको लगाकर फिर दोनों हाथोंसे दृढतापूर्वक कन्धेको पकड़कर कछुहेकी तरह उत्तान हो जाने पर "उत्तानकूर्मासन" हो जाता है ।। ४० ।।

(२३) उत्तानमण्डूकासनका लक्षण

मण्डूकासनमध्यास्य कूर्पराभ्यां धृतं शिरः ।
भवेद्भेकवदुत्तानमेतदुत्तानमण्डुकम् ।। ४१ ।।
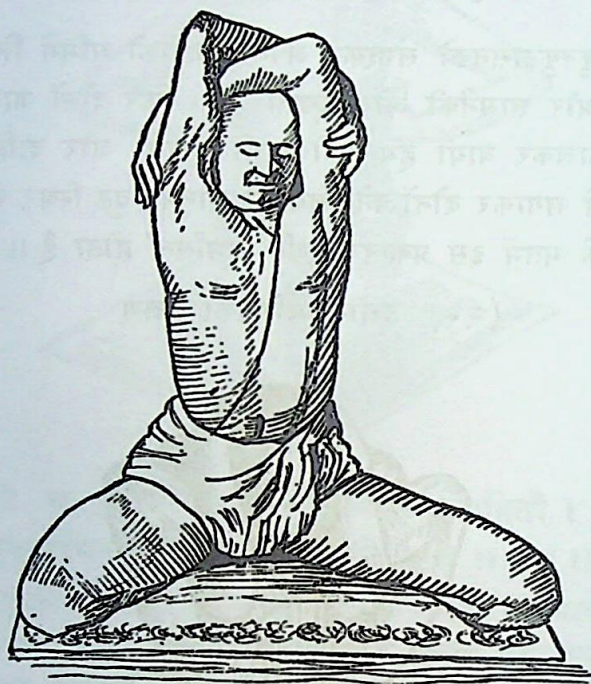
मण्डूकासनको लगाकर कुहनियोंको शिरपर धरकर दाहिने हाथसे बायें और बायें हाथसे दाहिने भुजदण्डोंको पकड कर उत्तान हो जाय। इससे साधक उत्तान मण्डूकसा हो जाता है, अतः यह 'उत्तानमण्डूकासन' कहाता है ।। ४१ ।।

(२४) वृक्षासनका लक्षण

वामोरुमूलदेशे च याम्यं पादं निधाय च ।
तिष्ठेत्तु वृक्षवद्भूमौ वृक्षासनमिदं विदुः ।। ४२ ।।

बायीं जंघाके मूलपर दाहिने पैरको रखकर (दोनों हाथोंको जोड़कर) एक ही पैरके सहारे सीधा होकर जमीनपर वृक्षोंके समान खडे रहना 'वृक्षासन' कहलाता है ।। ४२ ।।

इसीका भेद एक और है, उसका लक्षण इस प्रकार है :—

दोनों हथेलियोंको सीधा शिरके ऊपर लगाकर शिरको भूमिपर दृढ़ कर दे और दोनों पैरोंको मोड़कर गुदाकी ओर ले जाकर टिका दे । इसका नाम "अर्धवृक्षासन" है ।

(२५) मण्डूकासनका लक्षण

पृष्ठदेशे पादतलावंगुष्ठे द्वे च संस्पृशेत् ।
जानुयुग्मं पुरस्कृत्य साधयेन्मण्डुकासनम् ।। ४३ ।।

दोनों पैरोंके तलुओंको पीठकी ओर ले जाकर उनके दोनों अँगूठोंको
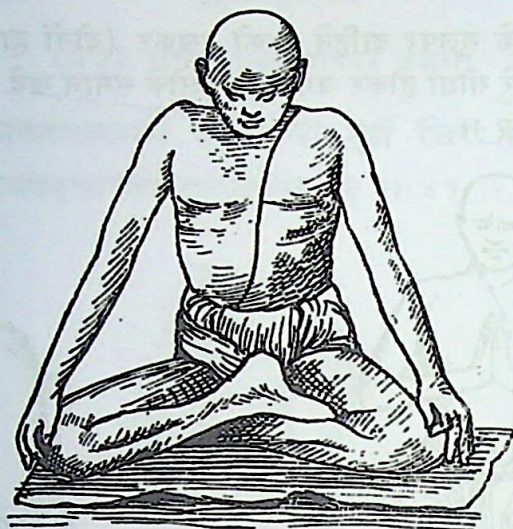
परस्पर भिड़ा दे और दोनों जंघाओंको अपने सामने रखकर उनपर सीधे दोनों हाथोंको धरकर दृढ़तासे बैठा रहे। इस आसनसे साधक मेढकके समान हो जाता है इसलिये यह 'मण्डूकासन' कहलाता है ॥ ४३ ॥

(२६) गरुडासनका लक्षण

जंघोरुभ्यां धरां पीड्य स्थिरकायो द्विजानुतः ।
जानूपरि करं युग्मं गरुडासनमुच्यते ।। ४४ ।।

दोनों जंघाओं और जानुओंको भूमिमें लगाकर फिर दोनों हाथोंको जानुओंपर रखकर उन जानुओंके सहारे दृढ़ स्थिर रहे यही 'गरुडासन' कहाता है। इस आसनसे साधक गरुड पक्षीके समान दीख पडता है ।। ४४ ।।

(२७) वृषासनका लक्षण

याम्यगुल्फे पायुमूलं वामभागे पदेतरम् ।
विपरीतं स्पृशेद्भूमिं वृषासनमिदं भवेत् ।। ४५ ।।

दाहिने गुल्फके ऊपर गुदामार्गको रखकर उसके बायें भागमें वाम पैरको उलटा करके इस प्रकार स्थिर करे कि भूमिपर टिका रहे। यह आसन बैठे हुए बैलके समान होता है, इसलिये 'वृषासन' कहाता है ।। ४५ ।।

(२८) शलभासनका लक्षण
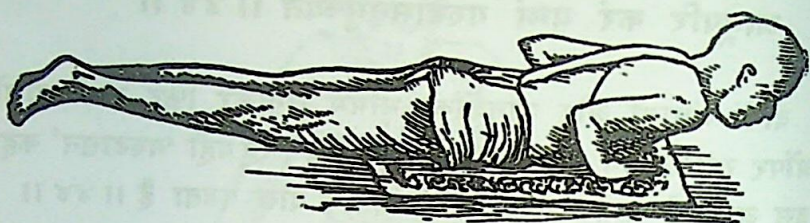
अधस्तु शेते करयुग्मवक्षाः
पाण्योस्तलाभ्यां पृथिवीं प्रपीड्य ।
पाण्योस्तलाभ्यां पृथिवीं प्रपीड्य ।
पादौ ख ऊर्ध्वं च वितस्तिमात्रं
वदन्ति पीठं शलभं मुनीन्द्राः ॥ ४६ ॥

दोनों हथेलियोंको भूमिपर धरकर उन्हींके सहारे वक्षस्थल आदि अंगोंको टिकाकर दोनों पैरोंको परस्पर भिड़ाकर दंडके समान सीधा जमीनसे इतना उठा रहे कि एक बिलस्त (बीता) का अन्तर रहे। इस प्रकारके आसनको मुनिवरोंने 'शलभासन' कहा है, क्योंकि इससे साधक शलभ (टीड़ी) के आकारवाला हो जाता है ॥ ४६ ॥

(२९) मकरासनका लक्षण

अधश्च शेते हृदयं निधाय
भूमौ च पादौ तु प्रसार्यमाणौ ।
शीर्षं च धृत्वा करदण्डयुग्मं
देहाग्निकारं मकरासनं तत् ॥ ४८ ॥

दोनों पैर भूमिपर दंडाकार इस प्रकार फैलाये कि परस्पर एकमें एक न मिले रहें और दोनों हाथोंको शिरपर धरकर बायें हाथसे दाहिने भुजदण्डको,

एवं दाहिने हाथसे बायें भुजदण्डको पकड़ ले। इस प्रकार करनेसे 'मकरासन नामक आसन होता है। इसका स्वरूप मकर (मगर) के समान होता है और यह जठराग्निको बढ़ानेवाला है॥ ४७॥

(३०) उष्ट्रासनका लक्षण
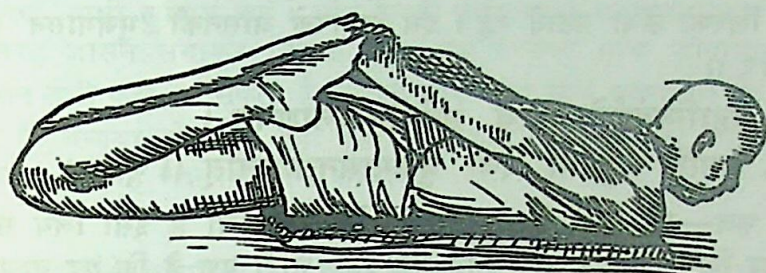
पदद्वयं व्यस्तमधश्च शेते पृष्ठे निधायापि धृतं कराभ्याम्।
आकुञ्चयेच्चैव हृदास्यमूर्ध्वमुष्ट्रं क्षुधादीन्हरते वदन्ति॥४८॥

पट होकर छातीके बल भूमिपर लेट जाय, फिर दोनों पैरोंको उलट कर पीठपर रख दे और दोनों हाथोंको पीठ परसे लेजाकर पैरोंके अंगूठोंको पकड़ ले। फिर उदर (पेट) एवं मुखको भूमिपरसे ऊँचा कर ले। इस तरहके आसनको 'उष्ट्रासन' कहते हैं। यह भूंख और प्यासको रोकनेवाला है इसलिये इससे योगसाधनमें बड़ी सहायता मिलती है, ऐसा सब योगिराजोंका सिद्धान्त है॥ ४८॥

(३१) भुजंगासनका लक्षण

अङ्गुष्ठौनाभिपर्यन्तमधो भूमौ तु विन्यसेत् ।
करतलाभ्यां धरां धृत्वा शीर्षमूर्ध्वं भुजङ्गवत् ।। ४९ ।।

पैरके अँगूठेसे लेकर नाभितक दंडाकार भूमिपर लेट जाय और दोनों हथेलियोंको उदरके समीप ले जाकर भूमिमें दृढ स्थिर कर दे और सर्पोंके समान शिरको ऊँचा उठाये रहे। इस प्रकारके आसनको 'भुजंगासन' कहते हैं ।। ४९ ।।

देहाग्निर्वर्धते नित्यं सर्वरोगविनाशनम् ।
जागर्ति भुजगी देवी भुजगासनसाधनात् ।। ५० ।।

फल—यह दिनों दिन जठराग्निको बढ़ानेवाला है इसी लिये समस्त रोगोंका विनाशक है। और इसमें यह बड़ा भारी गुण है कि यह वक्ष्यमाण कुण्डलिनी शक्तिको जागृत कर देता है, इसलिये योगमार्गमें सफलता मिलती है ।। ५० ।।

(३२) योगासनका लक्षण

उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुकोपरि ।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मकम् ।। ५१ ।।

पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
योगासनं भवेदेतद्योगिनां योगसाधकम् ॥ ५२ ॥

दोनों पैरोंको उलटा करके दोनों जंघाओंपर रखे और दोनों हाथ चित्त करके आसनके ऊपर रखे। फिर पूरक प्राणायाम द्वारा बाहरसे वायुको खींचकर रोक रखे, यानी कुम्भक करे। और अपनी नासिकाका अग्रभाग देखता रहे। इस तरह आसन लगाकर त्रिविध प्राणायाम करनेका नाम 'योगासन' है। योगासन तभी कहा जा सकता है जब आसनके साथ साथ प्राणायाम भी किया जाता है, अन्यथा योगासन नहीं कहा जा सकता। इसलिये तो "पूरकैर्वायु-माकृश्य......" यह लक्षणके साथ संमिलित किया गया है * ॥ ५१–५२ ॥

उपसंहार

आसनोंके अभ्याससे शरीरगत वायुकी गतिका मन्दापन, निरालस्यता उत्साहकी वृद्धि, शरीरकी नीरोगता होती है और क्षुधा, पिपासा आदिकी बाधाएँ दूर होती है, इसलिये मुमुक्षुजनोंको सर्व प्रथम आसनोंका अभ्यास करना चाहिये।

इति श्रीपण्डित–शिवनाथशर्मात्मज–पं० रामनरेश–मिश्र 'प्रेम' विरचिते भाषाटीकायुते बृहद्योगसोपाने तृतीयसोपानप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ चतुर्थ सोपान प्रकरण

आसनके बाद प्राणायामका विधान

अथासने दृढो योगी वशी हितमिताशनः ।
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ १ ॥

—हठयोगप्रदीपिका.

जब साधकको आसनकी क्रियाओंमें निपुणता प्राप्त हो जाय तब जितेन्द्रिय और समुचित मिताहारी होकर गुरुके बताये हुए क्रमसे प्राणायामका अभ्यास करे ॥ १ ॥

---

* उक्त बत्तीस आसनोंमेंसे सर्वोत्तम दो ही हैं–एक तो 'पद्मासन' और दूसरा 'सिद्धासन'। (१) पद्मासन तो उन ब्रह्मचारियों के लिये विशेष हितकर है जो गार्हस्थ्य-जीवनमें रहते हुए योग, ज्ञान, एवं उपासनाके पहलूको बढ़ानेके लिये और योगी सन्तान उत्पन्न करनेके लिये इच्छा रखते हों। इस आसनसे उपस्थ इंद्रियका दमन तो हो जाता है, पर बेकाम नहीं हो पाती और (२) सिद्धासन उन लोगोंके हितकर है जो वानप्रस्थ, संन्यासी और अविवाहित हों, क्योंकि इसके अभ्याससे उपस्थेंद्रिय बिलकुल बेकाम हो जाती है।

यद्यपि प्राणायामके बाद प्राणायामका विधान श्रीस्वात्मारामजीने लिखा है, परन्तु अधिक स्थूलकायवाले मनुष्योंको आसन लगानेमें बडी कठिनता होती है, अतः स्थौल्य दोष दूर करनेके लिये प्राणायामसे पहले 'षट्कर्मों' का निरूपण लिखता हूँ, क्योंकि—

मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ।। २ ।।

—हठयोग.

जिस साधकका मेद एवं श्लेष्मा बढ़ गये हों उन्हें पहले षट्कर्मोंका अभ्यास करना चाहिये । परन्तु जिसमें उक्त दोष न हों उसे इनके करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।। २ ।।

षट्कर्मकी उपयोगिता

षट्कर्म-निर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकाः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ।। ३ ।।

षट्कर्मों द्वारा जिसके शरीरसे स्थौल्य और कफजनित दोष दूर हो जाते हैं वह बडी आसानीसे प्राणायामको सिद्ध कर लेता है इसलिये षट्कर्मोंकी आवश्यकता है ।। ३ ।।

षट्कर्मोंके नाम

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ।। ४ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

१ धौति, २ बस्ति, ३ नेति, ४ त्राटक, ५ नौलिकर्म और ६ कपालभाति; ये छः 'षट्कर्म' कहाते हैं ।। ४ ।।

(१) धौतिकर्मका निरूपण

अन्तर्धौतिर्दन्त-धौतिर्हृद्धौतिर्मूलशोधनम् ।
धौतिं चतुर्विधां कृत्वा घटं कुर्वन्ति निर्मलम् ।। ५ ।।

—घेरण्डसंहिता

धौतिकर्मके चार भेद हैं—१ अन्तर्धौति, २ दन्तधौति, ३ हृद्धौति और ४ मूलशोधन । इन चार प्रकारकी धौतियों द्वारा शरीर मलरहित हो जाता है ।। ५ ।।

वातसारं वारिसारं वह्निसारं बहिष्कृतम् ।
घटस्य निर्मलार्थाय ह्यन्तर्धौतिश्चतुर्विधा ।। ६ ।।

(१) **अन्तर्धौति** — में भी चार भेद हैं — (क) वातसार, (ख) वारिसार, (ग) वह्निसार और (घ) बहिष्कृत। इन सबके लक्षण यथाकर्म हैं ॥ ६ ॥

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः।
चालयेदुदरं पश्चाद्वर्त्मना रेचयेच्छनैः ॥ ७ ॥

(क) **वातसार** — अपने मुखको कौवेकी चोंचके समान करके यानी दोनों होठोंको सिकोडकर धीरे धीरे वायुका पान करे। फिर वायुको पेटके अन्दर चारों ओर संचालित करके धीरे ही धीरे उसे बाहर निकाल दे। यह 'वातसारधौति'[१] कहाती है। इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है इसलिये रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

आकण्ठं पूरयेद्वारि वक्त्रेण च पिबेच्छनैः।
चालयेदुदरे चैव ह्युदराद्रेचयेदधः ॥ ८ ॥

(ख) **वारिसार** —उसे कहते हैं जिसमें मुख द्वारा धीरे धीरे जल पीकर कण्ठतक भर लिया जाता है। फिर उदरमें चारों तरफ संचालित करके गुदामार्ग द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है। इससे देह निर्मल हो जाती है, यहाँ तक कि देव—देहके समान दिव्य बन जाती है ॥ ८ ॥

नाभिग्रन्थिं मेरुपृष्ठे शतवारं च कारयेत्।
अग्निसारमियं धौतिर्योगिनां योगसिद्धिदा ॥ ९ ॥

(ग) **वह्निसार** —नाभिकी गांठको मेरुपृष्ठमें शत १०० वार लगाये, यानी अपने उदरको इस प्रकार वारंवार फुलाये और पिचकाये कि नाभिग्रन्थि जाकर पीठमें लग जाया करे। इस तरहके कृत्यको 'वन्हिसार' कहते हैं। यह जठराग्निको दीप्त कर उदरके समस्त रोगोंको नष्ट करती है ॥ ९ ॥

काकीमुद्रां शोधयित्वा पूरयेदुदरं महत्।
धारयेदर्धयामं तु अधोमार्गेण चालयेत् ॥ १० ॥

(घ) **बहिष्कृत**—कौवेकी चोंचके समान मुख बनाकर इतनी मात्रामें वायुका पान करे कि पेट भर जाय। फिर उस वायुको डेढ़ घंटे तक भेटमें धारण किये रहे, पीछे गुदामार्गसे बाहर निकाल दे। इसे 'बहिष्कृत-धौति' कहते हैं। इससे नाडियाँ शुद्ध हो जाती हैं, पर इसे तबतक नहीं करना चाहिये जबतक आधे घंटे तक वायुके रोकनेका अभ्यास न कर ले ॥ १० ॥

---

१ इसीका नाम 'काकीमुद्रा' भी है।

[1]जिह्वामूलं दन्तमूलं रन्ध्रं च कर्णयुग्मयोः ।
कपालरन्ध्रं पञ्चैते दन्तधौतिं प्रचक्षते ।। ११ ।।

(२) दन्तधौति—भी चार प्रकारकी होती र—(क) दन्तमूल, (ख) जिह्वामूल, (ग) कर्णरन्ध्र और (घ) कपालरन्ध्र ।। ११ ।।

खादिरेण रसेनान्यैः शुष्कमृत्तिकयाथवा ।
मार्जयेद्दन्तमूलं च यावत्किल्बिषमाहरेत् ।। १२ ।।

(क) दन्तमूल—खैरका रस, सूखी मिट्टी, अथवा अन्य किसी औषधविशेषसे दांतोंकी जड़को अच्छे प्रकार साफ करना चाहिये। यह 'दन्तमूल—धौति' कहाती है ।। १२ ।।

तर्जनीमध्यमानामेत्यङ्गुलित्रययोगतः ।
वेशयेद्गलमध्ये तु मार्जयेल्लम्बिकाजडम् ।।
शनैः शनैर्मार्जयित्वा कफदोषं निवारयेत् ।। १३ ।।

(ख) जिह्वामूल—तर्जनी, मध्यमा और अनामिका उंगलियोंको गलेके भीतर डालकर जीभको जड़तक बारम्वार घिसे। इस तरह धीरे धीरे कफके दोषको बाहर निकालदे ।। १३ ।।

तर्जन्यनामिकायोगान्मार्जयेत्कर्णरन्ध्रयोः ।
नित्यमभ्यासयोगेन नादान्तरं प्रकाशते ।। १४ ।।

(ग) कर्णरन्ध्र—तर्जनी और अनामिका उंगलियोंके योगसे दोनों कानोंके छिद्रोंको प्रतिदिन साफ करे। इसे 'कर्णरंध्रधौति' कहते हैं। इसके करनेसे एक प्रकारका नाद प्रकट होता है ।। १४ ।।

निद्रान्ते भोजनान्ते च दिवान्ते च दिने दिने ।
बद्धाङ्गुष्ठेन दक्षेण मार्जयेद्भालरन्ध्रकम् ।।
नाडी निर्मलतां याति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।। १५ ।।

(घ) कपालरन्ध्र—शयन करके उठनेपर, भोजनके अन्तमें और सूर्यास्तके बाद शिरके बीचके गढेको दाहिने हाथके अँगूठे द्वारा जलसे प्रतिदिन साफ करे। इसका नाम 'कपालरन्ध्रधौति' है। इसके करनेसे नाडियाँ स्वच्छ हो जाती हैं और दृष्टि दिव्य (साफ) रहती है ।। १५ ।।

हृद्धौतिं त्रिविधा कुर्याद्दण्डवमन-वाससा ।। १६ ।।

---

१ छन्दोभङ्गके भयसे जिह्वामूलका उपादान प्रथम हुआ है, पर दन्तमूल पहले होना चाहिये।

(३) हृद्धौति — के तीन भेद हैं — (क) दण्डधौति, (ख) वमन-धौति और (ग) वासोधौति ।। १६ ।।

रम्भादण्डं हरिद्राया वेत्रदण्डं तथैव च ।
हृन्मध्ये चालयित्वा तु पुनःप्रत्याहरेच्छनैः ।। १७ ।।
कफपित्तं तथा क्लेदं रेचयेदूर्ध्ववर्त्मना ।
दण्डधौतिविधानेन हृद्रोगं नाशयेद्ध्रुवम् ।। १८ ।।

(क) **दण्डधौति**—केलेके दण्ड, हलदीके दण्ड, अथवा चिकने बेतके दण्डको धीरे धीरे हृदयस्थलमें प्रविष्ट कर दे । फिर हृदयके चारों तरफ घुमाकर युक्तिपूर्वक बाहर निकाल ले । इस दण्डधौतिके करनेसे कफ, पित्त और क्लेद यानी उकलाहट आदि विकारी मल बाहर निकल आते हैं इसलिये हृदयके समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं।। १७–१८ ।।

भोजनान्ते पिबेद्वारि आकण्ठं पूर्णितं सुधीः ।
ऊर्ध्वदृष्टिं क्षणं कृत्वा तज्जलं वमयेत्पुनः ।।
नित्यमभ्यासयोगेन कफपित्तं निवारयेत् ।। १९ ।।

(ख) **वमनधौति** — बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि भोजन करनेक बाद कण्ठ पर्यन्त पानी पीकर भर ले, फिर थोड़ी देरतक ऊपरकी ओर देखकर उस पानीको मुखद्वारा बाहर निकाल दे । इस प्रकारकी क्रियासे कफदोष और पित्तदोष दूर होते हैं।। १९ ।।

चतुरंगुलविस्तारं हस्तपञ्च दशायतम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ।।
पुनः प्रत्याहरेच्चैव कथितं धौतिकर्म तत् ।। २० ।।

(ग) **वासोधौति**— चार अंगुल चौड़ा और पन्दरह हाथ, दश हाथ, अथवा कमसे कम पाँच हाथका बारीक वस्त्र किंचित् उष्ण (गर्म) जलसे भिगोकर गुरुके बताये हुए क्रमसे अर्थात् पहले दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ, किंवा इससे न्यून या ज्यादा युक्तिपूर्वक धीरे धीरे निगल जाय । फिर उसे धीरे ही धीरे बाहर निकाल दे । पर वस्त्र निगलते समय इस बातका ध्यान रहे कि वस्त्रका पिछला किनारा दाँतोंसे न छूटने पाये, क्योंकि ऐसा न करनेसे कदाचित् सब वस्त्र कण्ठके नीचे चला जायगा तो फिर बाहर निकालना कठिन हो जायगा । इस प्रकार अभ्यास करते करते चार अंगुलसे लेकर बाहर अंगुलतक चौडा और पाँच हाथसे लेकर तीस हाथ

तक लम्बा, अथवा इससे भी अधिक वस्त्र साधक निगल जाया करते हैं। निगलनेवाला वस्त्र कुछ खरदरा होना चाहिये, क्योंकि अत्यन्त बारीक होनेके कारण उदरमें जानेपर उसमें गाँठ पड़ जाती है तो बाहर निकालनेमें कष्ट होता है। इसे 'वासोधौति' कहते हैं। इस क्रियाके द्वारा गुल्म, ज्वर, प्लीहा कुष्ठ एवं कफ-पित्तजन्य सारे विकार नष्ट होते हैं। इसे भोजनके पहले ही करना चाहिये। २०॥

अपानक्रूरता तावद्यावन्मूलं न शोधयेत्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मूलशोधनमाचरेत्॥ २१॥

(४) **मूलशोधन** — जबतक मूलशोधन नहीं हो जाता तबतक अपानमार्गकी क्रूरता यानी गुदाका कड़ापन नहीं दूर होता, इसलिये प्रयत्नपूर्वक मूलशोधन करना चाहिये॥ २१॥

पीतमूलस्य दण्डेन मध्यमाङ्गुलिनापि वा।
यत्नेन क्षालयेद्गुह्यं वारिणा च पुनःपुनः॥ २२॥

विधि—कच्ची हल्दीकी जड़से अथवा बीचकी अँगुलीसे यत्नपूर्वक बारम्बार जल द्वारा गुदामार्गको साफ करे। इसे 'मूलशोधन' कहते हैं और कोई कोई इसीको 'गणेशक्रिया' भी कहते हैं॥ २२॥

वारयेत्कोष्ठकाठिन्यमामाजीर्णं निवारयेत्।
कारणं कान्तिपुष्ट्योश्च वह्निमण्डलदीपनम्॥ २३॥

फल—इस क्रिया द्वारा उदरगत काठिन्य दूर हो जाता है और आमजनित, एवं अजीर्णजनित रोग नहीं उत्पन्न होने पाते, इसलिये शरीरकी पुष्टि तथा कान्ति होती है। यह जठराग्निको प्रदीप्त करनेवाला है इसीसे इसके द्वारा उदरगत विकार नहीं हो पाते॥ २३॥

(२) बस्तिका निरूपण

जलबस्तिः शुष्कबस्तिर्बस्तिः स्यामद्द्विविधास्मृता।
जलबस्ति जले कुर्याच्छुष्कबस्ति सदा क्षितौ॥ २४॥

बस्तिकर्मके दो भेद हैं—एक तो जलवस्ति और दूसरा शुष्कवस्ति॥२४॥
दोनों वस्तियोंके लक्षण निम्नलिखित हैं:—

नाभिदघ्नजले पायुं न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधारकुञ्चनं कुर्याच्छालनं बस्तिकर्म तत्॥ २५॥

(१) **जलबस्ति**—किसी बड़े पात्रमें नाभि पर्यन्त ठंढा जल भरवाकर अथवा नदी तालाव आदिमें जाकर उत्कटासन लगाकर बैठ जाय। और गुदा—

मार्गका आकुञ्चन और प्रसारण करे, यानी उसी जलके अन्दर उत्कटासनसे बैठा हुआ साधक अपनी गुदाको इस प्रकार सिकोड़े और फैलाये कि जैसे अश्व आदि मूत्रत्यागके बाद किया करते हैं। इसे 'जलवस्ति' कहते हैं और इसीका नाम 'छालन-कर्म' भी है ॥ २५ ॥

प्रमेहं च उदावर्तं क्रूरवायुं निवारयेत् ।
भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कामदेवसमो भवेत् ॥ २६ ॥

फल---इससे प्रमेह, उदावर्त्त, कोष्ठकी क्रूरता आदि रोग दूर हो जाते हैं और देह अपनी काबूमें रहती है। कामदेवके समान साधक सुन्दर होता है ॥ २६ ॥

पश्चिमोत्तानतो बस्तिं चालयित्वा शनैरधः ।
अश्विनीमुद्रया पायोराकुञ्चनप्रसारणम् ॥ २७ ॥

(२) स्थलवस्ति अथवा शुष्कवस्ति---की क्रिया इस प्रकार है कि भूमिपर उत्तान होकर लेट जाय, फिर जिसमें गुदामार्गका आकुञ्चन और प्रसारण होता है ऐसी अश्विनीमुद्रा द्वारा धीरे २ वस्तिका चालन करे ॥ २७ ॥

एवमभ्यासयोगेन कोष्ठ-दोषं न विद्यते ।
विवर्धयेज्जाठराग्निमामवातं विनाशयेत् ॥ २८ ॥

फल---इस वस्तिके अभ्याससे जठराग्नि प्रदीप्त होकर उदरगत आम-वात आदि रोगोंको नष्ट कर देती है ॥ २८ ॥

(३) नेतिका निरूपण ।

सूत्रं वितस्तिमात्रं तु सुस्निग्धं ग्रन्थिवर्जितम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण नासारन्ध्रे प्रवेशयेत् ॥ २९ ॥
मुखान्निष्काशयेच्चैव नेतिं सिद्धाः प्रचक्षते ।
निहन्तिमास्तकान्रोगान्दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ३० ॥

—योगरहस्य.

एक बिलस्ति प्रमाण (बारह अङ्गुल) की पतली एवं जिसमें गाँठ न हो ऐसी सूतकी रस्सी लेकर उसमें मोम आदि लगाकर चिकनी एवं दृढ बना ले। उसे गुरुके बताये हुए क्रमसे नासिकाके छिद्रमें डालकर मुख द्वारा निकाल ले। इसी तरह पृथक् पृथक् दोनों नासिका छिद्रों द्वारा प्रविष्ट कर मुख द्वारा निकाल लिया करे। इस प्रकारकी क्रियाको 'नेति' कहते हैं। इसके करनेसे मस्तकके रोग नष्ट हो जाते हैं और नेत्रोंकी दर्शन शक्ति दिव्य रहती है। और इस क्रियासे यह भी लाभ होता है कि प्राणायाम करनेमें बड़ी सुगमताके साथ वायुका आरोह और अवरोह होता है ॥ २९-३० ॥

(४) नौलिकर्मका निरूपण ।

अमन्दावर्तभेदेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ।। ३१ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

अपने कन्धेको नवाकर प्रबल वेगसे पेटको जलभ्रमरकी तरह बाँये और दाहिने वारंवार घुमाये। इसे सिद्ध लोग 'नौलिकर्म' कहते हैं ।। ३१ ।।

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादि—
संधाषिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषणी च,
हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ।। ३२ ।।

फल—यह नौलिकर्म जठराग्निको प्रदीप्त करके भुक्त पदार्थोंका पाचन रेचन आदि क्रियाओंका संपादन भलीभाँति कर देता है और यह शरीरगत समस्त वात-पित्तजन्य रोगोंको नष्ट करके साधकको सुखी बनाये रखता है इसलिये इस नौलिकर्मको आचार्योंने हठयोग क्रियामें उत्तम माना है ।। ३२ ।।

(५) त्राटकका निरूपण

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ।। ३३ ।।

एकाग्रचित्तसे दृष्टिको स्थिर करके किसी भी सूक्ष्म लक्ष्यपर इकटक तबतक देखते रहना चाहिये जबतक आँसू न गिरने लग जायँ। इसका नाम 'त्राटक' है ।। ३३ ।।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ।। ३४ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

फल—यह त्राटक नेत्रके रोगोंको नष्ट करनेवाला है और तन्द्राको अदृश्य (दूर) करनेमें तो यह मानो किवाड ही है। यह सुवर्णकी पिटारीकी तरह गोपनीय है ।। ३४ ।।

(६) कपालभातिका निरूपण

वातक्रमव्युत्क्रमाभ्यां शीत्क्रमेण विशेषतः ।
भालभातिं त्रिधा कुर्यात्कफदोषं निवारयेत् ।। ३५ ।।

—घेरण्डसंहिता.

साधकोंको चाहिये कि—१ वातक्रम, २ व्युत्क्रम और ३ शीत्क्रम, इन तीन भेदोंवाली [1]कपालभातिको करके कफजनित विकारोंको दूर हटायें ॥३५॥

इडया पूरयेद्वायुं पुनः पिङ्गलया त्यजेत् ।
पूरयेद्वा पिङ्गलया पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ३५ ॥

(१) **वातक्रम**—इडा नाडी द्वारा वायु खींचना और पिङ्गला नाडी द्वारा बाहर निकाल देना चाहिये। ऐसे ही पहले पिङ्गला द्वारा खींचे और इडा द्वारा निकाल दे। इस तरह अनुलोम और विलोम रीतिसे वायुके आरोहावरोहका नाम ,वातक्रम–कपालभाति' है। इस क्रियाके द्वारा कफजन्य रोग नहीं हो पाते॥ ३६ ॥

नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत् ।
पायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मदोषं निवारयेत् ॥ ३७ ॥

(२) **व्युत्क्रम**—नासिकाके दोनों छिद्रों द्वारा जलको मुख द्वारा बाहर निकाल दे। इसे भी अनुलोम और विलोम रीतिसे करना चाहिये। इसका फल वही है जो वातक्रमका है॥ ३७ ॥

शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरेचयेत् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवसमो भवेत् ॥ ३८ ॥

(३) **शीत्क्रम**—मुखसे शीत्कार कर (सुर–सुर करके) जल खींचना और नासिकाके छिद्रों द्वारा निकाल देना 'शीत्क्रम–कपालभाति' कहाती है।

फल—यह होता है कि पूर्णतया इसका अभ्यास हो जानेपर साधक कामदेवके समान सुन्दर होता है। उक्त षट्कर्मों द्वारा बाह्य और आन्तरिक नाडियोंकी शुद्धि साधकोंको करनी चाहिये पर इनका अभ्यास गुरुके सामने ही होना चाहिये। प्राचीन कालमें भारतवासी जब इन्हें करते थे तो अनेक प्रकारकी व्याधियोंसे बचे रहते थे, इसलिये प्रायः हकीम–डाक्टरोंके शिकार नहीं बनते थे। इन षट्कर्मोंमेंसे धौत्ति, नेति और नौलिकर्म बहुत ही उपयोगी हैं॥ ३८ ॥

इस तरह षट्कर्मोंका निरूपण कर अब शरीरगत नाड़ियोंका परिचय इसलिये यहाँ आवश्यक है कि प्राणायाम क्रियाओंमें इन्हीं नाडियों द्वारा काम लिया जाता है :—

सार्धलक्षत्रयं नाड्यः संति देहान्तरे नृणाम् ।
प्रधानभूता नाड्यस्तु तासु मुख्याश्चतुर्दश ॥ ३९ ॥

१—"भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषिणी ॥" —श्रीस्वात्मारामजी.

सुषुम्णेडा पिङ्गला च गान्धारी हस्तिजिह्विका ।
कुहू सरस्वती पूषा शंखिनी च पयस्विनी ।। ४० ।।
वारुणालम्बुषा चैत्र विश्वोदरी यशस्विनी ।
एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः पिङ्गलेडासुषुम्णिका ।। ४१ ।।

—शिवसंहिता.

इस शरीरपंजरमें साढ़े तीन लाख नाडियाँ हैं, पर उनमें प्रधानरूपसे चौदह हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं— २१ सुषुम्णा, २ इड़ा, ३ पिंगला, ४ गान्धारी, ५ हस्तिजिह्वका, ६ कुहू, ७ सरस्वती, ८ पूषा, ९ शंखिनी, १० पयस्विनी, ११ वारुणा, १२ अलम्बुषा, १३ विश्वोदरी और १४ यशस्विनी। इन चौदहमें भी तीन नाडियाँ मुख्य हैं— १ इडा, २ पिङ्गला और ३ सुषुम्णा ।। ३९–४१ ।।

इडानाम्नी तु या नाडी वाममार्गे व्यवस्थिता ।
सुषुम्णायां समाश्लिष्य दक्षनासापुटे गती ।। ४२ ।।

(१) **इडा**[1]—उस नाडीका नाम है जो सुषुम्णाको स्पर्श करती हुई दाहिनीना सिकाके दक्षिणद्वारको गई है ।। ४२ ।।

पिङ्गला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता ।
सुषुम्णा सा समाश्लिष्य वामनासापुटे गता ।। ४३ ।।

(२) **पिङ्गला**[2]—उसे कहते हैं जो सुषुम्णाका आधार लेती हुई नासिकाके वामद्वारको गई है ।। ४३ ।।

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत् खलु ।
षट्स्थानेषु च षट्शक्ति षट्पदं योगिनो विदुः ।। ४४ ।।

(३) **सुषुम्णा**[3]—उस नाडीको कहते हैं जो इडा और पिंगला नाडीके बीचमें स्तम्भस्वरूपसे रहती है। इस सुषुम्णाके सहारे छः शक्तियाँ रहती हैं, जिनके नाम येय् हैं—डाकिनी, हाकिनी, काकिनी, लाकिनी, राकिनी, और शाकिनी। इन्हीं छ. स्थानोंमें आधार आदि षट्चक्र हैं जिनका वर्णन उपोद्घात प्रकरणमें लिख चुका हूँ। इन सबका पूर्ण परिचय योगी लोगोंको ही होता है, लिखने और कहने सुननेमें नहीं आ सकता ।। ४४ ।।

---

१ इसका दूसरा नाम 'गंगा' है और देवता चन्द्र हैं, अथवा इडाका नाम ही चन्द्र है। २ इसका नाम 'यमुना' और 'सूर्य –नाडी' भी है। ३ इसे 'सरस्वती' और 'अग्निनाडी भी कहते हैं।

तिसृष्वेका सुषुम्णैव मुख्या सा योगिवल्लभा ।
अन्यास्तदाश्रयं कृत्वा नाड्यः सन्ति हि देहिनाम् ।। ४५ ।।

—शिवसंहिता.

उक्त तीन नाडियोंमें भी योगियोंने एक वही नाडी मुख्य मानी है जो सुषुम्णा कहाती है । क्योंकि इसीके आधार समस्त नाडियोंकी स्थिति है । इसी नाडीके मध्यमें जब प्राण और अपान वायु दोनों मिल जाती हैं तो कुण्डलिनी शक्तिको जागृत करके प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्रमें प्रविष्ट होकर ब्रह्मानन्दका अनुभव करने लग जाता है ।। ४५ ।।

इसी सुषुण्णाके मार्गमें सोती हुई उस कुण्डलिनी शक्ति का परिचय यहाँपर इसलिये लिख देना आवश्यक है कि प्राणायामादि क्रियाओं द्वारा जब इसका जागरण किया जाता है तभी ब्रह्मानन्दका लाभ होता है :—

तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ।
सार्धत्रिकारा कुटिला सुषुम्णामार्गसंस्थिता ।। ४६ ।।

उपोद्धात प्रकरणमें लिखे हुए आधारचक्रमें साढे तीन आवृत्ति करके सर्पिणीकी तरह कुण्डली बाँधकर, पूछको अपने मुखमें रखकर स्थित रहती है । इसका तेज विजलीके समान चमकीला होता है और यह सुषुम्णा नाडीके मार्गमें विराजमान रहती है ।। ४६ ।।

ऐसा ही और भी लिखा है :—

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।। ४७ ।।

—गोरक्षपद्धति.

जिस मार्ग (सुषुम्णा) द्वारा जन्ममरण रूप दुःख दूर करनेवाला अखंड ब्रह्मानन्द पद मिलता है उस मार्गको रोककर यह कुण्डलिनी सोती रहती है ।। ४७ ।।

इस प्रकार नाडियोंके प्रसंगमें कुण्डलिनी शयक्ति का थोडासा परिचय लिखकर अब मैं—"नाडी शुद्धिं च तत्पश्चात्प्राणायाम् च साधयेत् ।।" 'नाडीशुद्धिके बाद प्राणायाम करना चाहिये' इस कथनानुसार प्राणायामके लक्षण आदि विषयोंका निरूपण लिखता हूँ :—

प्राणायामका लक्षण

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः[1] प्राणायामः ।।

—योगदर्शन.

---

१. दोहा—"श्वास और प्रश्वासकी, गतिका तब विच्छेद–
होता है जब साध ले, आसन सभी अखेद ।।" —'प्रेम'

जब ठीक आसन लग जाया करे तो प्राणायाम करना चाहिये। पद्मासन आदि आसनोंमेंसे किसी एक आसनको लगाकर श्वास और प्रश्वासोंका रोकना 'प्राणायाम[१]' कहाता है ॥ ४७ ॥

सूत्रपर व्यासभाष्य :—

सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः ।
कोष्ठ्यस्य वायोर्निस्सारणं प्रश्वासः ।
तयोर्गतिविच्छेदः उभयाभावः प्राणायामः ॥

वायुको बाहरकी ओरसे भीतरको खींचना 'श्वास' कहाता है। एवं उदरके अन्दर गई हुई वायुको बाहर निकालना 'प्रश्वास' कहाता है। और प्राणायाम उसका नाम है जिसमें श्वास और प्रश्वास दोनोंकी गतिका अभाव होता है ॥

इस लक्षणसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्राणायाम तीन प्रकारका होता है, क्योंकि पूरक, रेचक और कुंभक इन त्रिविध प्राणायामोंमें श्वास, प्रश्वास और उभयाभाव ही तो होता है। तद्यथा :—

प्राणायामः शरीरस्थ वायोस्तद्वन्निरोधनम् ।
आचार्याणां तु केषांचिद्रेचकपूरककुंभकैः ॥ ४९ ॥

शरीरगत वायुकी गतिविधिका निरोध होना प्राणायाम कहाता है और किसी किसी आचार्योंके मतमें प्राणायाममें पूरक, रेचक और कुम्भक ये तीन भेद होते हैं ॥ ४९ ॥

सूत्रकारके लक्षणपर विचार :—

रेचकपूरककुम्भकेष्वस्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद
इति प्राणायामसामान्यलक्षणमेतदिति ।
तथाहि—'यत्र बाह्यो वायुराचम्यान्तर्धार्यते
पूरके, तत्रास्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः ।
यत्रापि कोष्ठ्यो वायुर्विरिच्य बहिर्धार्यते रेचके,
तत्रास्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः ॥
एवं कुम्भकेऽपीति ।
तदेतद्भाष्येणोच्यते—'सत्यासन जय' इति ।

—श्रीवाचस्पति.

---

१. प्राणायाम शब्दका वाच्यार्थ भी यही होता है—'प्राणः स्वदेहजो वायुरायामस्तन्निरोधनम् ।' शरीर के अन्दर जो वायु रहती है उसके आयाम यानी निरोधका नाम 'प्राणायाम' है ।

'रेचक' पूरक और कुम्भक में श्वास और प्रश्वासकी गतिका अभाव होना' यह प्राणायामका सामान्य लक्षण है। और इन तीनोंमें श्वास, प्रश्वासकी गतिका भी अभाव रहता है।
जैसे--जिस पूरकमें बाहरसे वायुका पान किया जाता है, उसमें श्वास प्रश्वासकी गतिका विच्छेद रहता है और जिसमें उदरगत वायुका बाहर निर्गमन होता है ऐसे रेचकमें भी श्वास, प्रश्वासकी गतिका विच्छेद होता है। इसी प्रकारजिसमें दोनोंका अभाव रहता है ऐसे कुम्भकमें भी वायुकी गतिका विच्छेद होता है, यह बात भाष्य द्वारा बता दी गयी है।

शंका--यद्यपि कुम्भकमें श्वास, प्रश्वासकी गतिका अभाव रहता है, पर पूरक और रेचकमें श्वास तथा प्रश्वासकी गतिका विच्छेद नहीं होता, किन्तु वायुकी गति वर्तमान रहती है इसलिये सूत्रकारका लक्षण ठीक नहीं है। क्योंकि रेचक और पूरकमें लक्षण नहीं संघटित होता इसलिये अव्याप्ति दोष आता है ?

उत्तर— यह वादीका कथन सत्य है, परन्तु लक्षणका शाब्दबोध इस प्रकार होता है कि--"स्वाभाविकश्वासप्रश्वासरूपविशिष्टाभाव." स्वाभाविक श्वास और प्रश्वासकी गतिका अभाव प्राणायाम कहाता है। इस तरह 'स्वाभाविक' शब्द और जोड़ देनेसे कुछ दोष नहीं आता। क्योंकि स्वाभाविक वायु-गति का अभाव तो तीनोंमें रहता है।

प्राणायामका चातुर्विध्य

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकाल-
संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।। ५० ।।

—योगदर्शन.

१ बाह्य, २ आभ्यन्तर और ३ स्तम्भ हैं वृत्तियाँ जिसकी ऐसा प्राणायाम देश, काल और संख्याओं द्वारा दीर्घसे सूक्ष्म हो जाता है वही (४) चौथा प्राणायाम कहाता है।

तद्यथा :—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।। ५० ।।

—योगदर्शन.

श्वास और प्रश्वासके विषयावधारणसे कुछ दिनोंमें दृढ भूमि होनेपर दोनोंके आक्षेपपूर्वक गतिका अभाव होता है यानी अभ्यासकी परिपक्वावस्थामें उक्त देश काल आदि विषयोंसे रहित वायुका निरोध होता है इसलिये वह चौथा प्राणायाम कहाता है।

जिस तरह सूत्रकार प्राणायामका चातुर्विध्य मानते हैं उसी तरह अन्य आचार्य भी मानते हैं। यथा :—

सहितः केवलश्चेति कुम्भकस्तु द्विधा भवेत् ।
रेचकात्पूरकाच्चैव सहितः कुम्भकः स्मृतः ।
आभ्यां विरहितः कुम्भः केवलो ह्युपजायते ।। ५१ ।।

कुम्भक प्राणायाम दो प्रकारका है—एक सहितकुम्भक और दूसरा रहित कुम्भक। (१) जिसमें रेचक और पूरक होते हैं उसे 'सहितकुम्भक' कहते हैं और (२) जिसमें दोनोंका अभाव रहता है उसे 'रहितकुम्भक' कहते हैं, इस तरह चार भेद हो जाते हैं।। ५१ ।।

और—

सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत् ।
सगर्भो बीजमुच्चार्य निर्गर्भो बीजवर्जितः ।। ५२ ।।

सहित कुम्भकके भी दो भेद हैं—१ सगर्भ और २ निर्गर्भ। (१) जो बीज सहित होता है वह 'सगर्भ' कहाता है और (२) जो विना बीजमन्त्रके होता है वह 'निर्गर्भ' कहाता है।। ५२ ।।

कुम्भकके और भी आठ भेद होते हैं :—

सूर्यभेदनमुज्जायी शीत्कारी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः ।। ५३ ।।

१ सूर्यभेदन, २ उज्जायी, ३ शीत्कारी, ४ शीतली , ५ भस्त्रिका, ६ भ्रामरी, ७ मूर्छा और ८ प्लाविनी; ये कुम्भकके आठ भेद हैं।। ५३ ।।

कथितं सहितं कुम्भं सूर्यभेदनकं शृणु ।
पूरयेत्सूर्यनाड्या च यथाशक्ति बहिर्मरुत् ।। ५४ ।।
धारयेद्बहुयत्नेन कुम्भकेन जलन्धरैः ।
स्यात्स्वेदो नखकेशेषु तावत्कुर्वन्तु कुम्भकम् ।। ५५ ।।

(१) **सूयभेदन**—वक्ष्यमाण जालन्धर बन्ध लगाकर दाहिनी नासिकासे श्वासको खींचकर यथाशक्ति उदरमें धारण किये रहे। इस तरह यत्नपूर्वक कुम्भक यानी वायुको पेटमें धारण तवतक किये रहे जबतक नख और केशोंके छिद्रोंमें पसीना न आजाय।। ५४ ।। ५५ ।।

कुम्भकः सूर्यभेदस्तु जरामृत्युविनाशकः ।
बोधयेत्कुण्डलीं शक्ति देहानलविवर्धनः ।। ५६ ।।

फल—सूर्यभेदन संज्ञक कुम्भक करनेसे कुण्डलिनी शक्तिका जागरण होता है और जठराग्निकी अभिवृद्धि होती है।। ५६ ।।

नासाभ्यां वायुमाकृष्य वायुं वक्त्रेण धारयेत् ।
हृद्गलाभ्यां समाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत् ।। ५७ ।।

(२) **उज्जायीकुम्भक**--नासिकाके छिद्रों द्वारा अनुलोम और विलोम रीतिसे बाहरसे वायुको खींचकर मुखमें धारण करे। फिर मुखसे ले जाकर कण्ठमें धारण करे। ऐसे ही कण्ठसे ले जाकर वायुको हृदयमें धारण करे। फिर यथाक्रम हृदयसे कंठमें, कण्ठसे मुखमें और मुखसे बाहर वायुको निकाल दे। इस प्रकारकी क्रियाको 'उज्जायीकुम्भक' कहते हैं ।। ५७ ।।

उज्जायीकुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत् ।
न भवेत्कफरोगं च क्रूरवायुरजीर्णकम् ।। ५८ ।।

फल--यह होता है कि इस उज्जायीकुम्भक द्वारा कफ रोग, वायुप्रकोप और अजीर्ण नहीं हो पाते। इसके द्वारा सब कार्योंका साधन करना चाहिये ।।५८।।

शीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ।। ५९ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

(३) **शीत्कारी**--दोनों ओठोंके मध्यमें लगी हुई, जिह्वासे शीत्कार हुआ मुख द्वारा कुम्भक करे, और नासिकाके छिद्रों द्वारा रेचक करे। इसे 'शीत्कारी-कुम्भक' कहते हैं और इसके अभ्याससे साधक कामदेवके समान कान्तिमान् हो जाता है।। ५९ ।।

जिह्वया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः ।।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत्पुनः ।। ६० ।।

(४) **शीतलीकुम्भक**--जिह्वाके द्वारा बाहरसे वायुको खींचकर उदरमें भर दे और अपने अभ्यासानुसार कुम्भक करके नासिकाके दोनों छिद्रों द्वारा बाहर निकाल दे। यह 'शीतलीकुम्भक' कहाता है। फल इसका वही होता है जो उज्जायीका है।। ६० ।।

भस्त्रेव लोहकाराणां संभ्रमेत्तु यथाक्रमम् ।
तथा वायुं च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः ।। ६१ ।।

(५) **भस्त्रिकाकुम्भक** — उसे कहते हैं जिसमें लुहारकी धमनीकी तरह वारंवार वायुको खींचकर कुम्भकके साथ साथ नासिकाके छिद्रों द्वारा वायु बाहर निकाल दी जाती है। इसे श्रीस्वात्मारामजी 'कपाल-भाति' कहते हैं, जिसका उल्लेख षट्कर्मोंके निरूपणमें किया जा चुका है। इसके करनेसे शरीर नीरोग रहता है।। ६१ ।।

अर्धरात्रिगते योगी जन्तूनां शब्दवर्जिते ।
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात्पूरककुम्भकम् ।। ६२ ।।

(६) **भ्रामरीकुम्भक**—उस समय जीवजन्तुओंके शब्दका अभाव रहता है इसलिये आधीरातके समय विधिवत् आसनपर बैठकर दोनों कानों अँगुलिओंको लगाकर पूरकपूर्वक कुम्भक करे। इसमें भ्रमरीके शब्दकी तर कानोंको मूंद लेनेपर शब्द सुनायी पड़ता है इसीसे इसे 'भ्रामरीकुम्भक कहते हैं। यह नादयुक्त क्रिया 'लय–योग' की है, जिसका दिग्दर्शन उपोद्घात प्रकरणमें लिखा ज चुका है। इस विषयमें विशेष जानना हो तो योगरहस् आदि ग्रन्थोंका अवलोकन करना चाहिये ।। ६२ ।।

पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा जालन्धरं शनैः ।
रेचयेन्मूर्छनाख्येयं मनो मूर्च्छा सुखप्रदा ।। ६३ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

(१) **मूर्च्छाकुम्भक**—पूरक होनेके बाद अत्यन्त दृढतासे जालन्धर बन्ध लगाकर कुम्भक करे। फिर धीरे धीरे वायुका रेचन कर दे इसे 'मूर्च्छा कुम्भक' कहते हैं। इसके द्वारा मनकी मूर्च्छा होती है इसलिये साधकोंको सुखदायक है ।। ६३ ।।

अन्तःप्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ।। ६४ ।।

—हठयोग.

(८) **प्लाविनीकुम्भक**—उसका नाम है जिसमें पूरक द्वारा शरीरके अन्दर बहुत अधिक मात्रमें वायु भर ली जाती है और फिर कुम्भक किया जाता है। जिससे साधक अगाध जलमें इस तरह सुखपूर्वक तैरता रहता है जैसे कमलका पत्ता। इस कुम्भकके सिद्ध कर लेने पर साधकको जलकी ओरसे कुछ भी भय नहीं होता ।।

घेरण्डसंहिताकार कुम्भकका आठवाँ भेद 'प्लाविनी' न मानकर 'केवली–कुम्भक' मानते हैं, जिसका लक्षण प्रत्येक श्वास और प्रश्वासके साथ साथ यथाक्रम 'हं, सः' उच्चारण करते हुए पूरक, रेचक करना है। यहीं 'सगर्भ' अथवा 'सबीज' कुम्भक कहाता है।। ६४ ।।

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ।।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणात् ।। ६५ ।।

सहितकुम्भकका अभ्यास तभीतक करना चाहिये जब तक रेचक और पूरकके विना कुम्भक न होने लग जाय। यानी जब विना पूरकके ही एकाएक

वायुके धारण करनेकी शक्ति हो जाय तो फिर सहितकुम्भकके करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।।

महर्षि श्रीपतञ्जलि जी और याज्ञवल्क्य आदि आचार्योंने जो चार प्रकारका प्राणायाम बताया है उसका वास्तविक भेद यह है कि प्राणायाममें तो पूरक, कुंभक, रेचक, ये तीन ही भेद हैं, किन्तु पूरक, रेचकके विना जब कुम्भक करनेकी शक्ति साधकको हो जाती है तो वही प्राणायामकी परिपक्वावस्था कही जाती है। इसीको प्राणायामका चौथा भेद कहते हैं। इसी प्राणायामकी सिद्धावस्थाको सूत्रकार — "बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः" कहते हैं और अन्य आचार्य 'केवल–कुम्भक' कहते हैं ।। ६५ ।।

प्राणायाम कितनी मात्राकी होती है ? इसका निरूपण इस प्रकार है :—

मात्राका विवेचन

चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं चैव वायसः ।
शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम् ।। ६६ ।।

—पाणिनीयशिक्षा.

नौलेका शब्द आधा मात्राका, नीलकण्ठका शब्द एक मात्रा, कौवेका दो मात्राका और मयूर (मोर) का शब्द तीन मात्राका होता है ।। ६६ ।।

अथवा—

जानु प्रदक्षिणी कुर्यान्न द्रुतं न विलम्बितम् ।
प्रदद्याच्छोटिकां[1] यावत्तावन्मात्रेति गीयते ।। ६७ ।।

—स्कन्दपुराण.

न तो बहुत जलदी और न बहुत देरमें जानुकी प्रदक्षिणाके साथ साथ अँगूठ और अनामिका अँगुलीको मिलाकर एक वार बजानेमें जितना समय लगता है उसे एक 'मात्रा' कहते हैं ।। ६७ ।।

किंवा—

ओमित्येकाक्षरं मात्रां प्रवदन्ति मनीषिणः ।
तालत्रयं तथा केचिन्मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ।। ६८ ।।

—योगरहस्य.

जितने समयमें 'ओ३म्' शब्दका ठीक २ उच्चारण होता है वही प्राणायामकी एक मात्रा होती है। या तीन बार ताली बजानेमें जितना काल

---

१ "अङ्गुष्ठामध्यमाङ्गुलिसंघर्षजनितः शब्दश्छोटिकेत्युच्यते" अगूंठे और मध्यमा अँगुलीके संघर्षसे यानी दोनोंको मिलाकर बजानेसे जो शब्द होता है उसे 'छोटिका' कहते हैं।

लगता है वह एक मात्रा है। योगचिन्तामणिमें—'सोते हुए मनुष्य के श्वास और प्रश्वासके एक वार जाने, आनेमें जितना समय लगता है वही प्राणायामकी मात्रा होती है' यह लिखा है ॥ ६८ ॥

प्राणायाममें मात्रा

प्राणायामस्य मानं तु मात्रा द्वादशकं स्मृतम् ।
नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्धात ईरितः ॥ ६९ ॥
मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्चतुर्विंशतिमात्रकः ।
मुख्यस्तुयस्त्रिरुद्धातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते ॥ ७० ॥

—लिङ्गपुराण.

बारह मात्राका प्राणायाम निम्नश्रेणीका है। इसी बारह मात्रा पर्यन्तको एक 'उद्धात'[१] कहते हैं। एक उद्धातवाला प्राणायाम निकृष्ट, दोका मध्यम और तीन उद्धातका उत्तम होता है। इस उत्तम प्राणायाममें ३६ मात्राएं व्यतीत हो जाती हैं ॥ ६९–७० ॥

प्रथमे द्वादशी मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता ।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥ ७१ ॥

—गोरक्षपद्धति

द्वादश मात्रात्मक प्राणायाम कनिष्ठ, २४ मात्राका मध्यम और ३६ मात्राका उत्तम होता है। अथवा लगातार बारह बारह मात्रा पर्यन्त पूरकत्रय करनेसे कनिष्ठ, चौबिस २ से मध्यम और छत्तीस २ मात्रासे उत्तम कोटिका जानना चाहिये ॥ ७१ ॥

इसी तरह और भी देखिये: —

कनिष्ठ, मध्यम और उत्तमका लक्षण ।

अधमे चोद्यते घर्मः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ७२ ॥

—गोरक्षपद्धति.

कनिष्ठ प्राणायाममें तो पसीना हो आता है और मध्यममें कम्प होता है। तथा उत्तम प्राणायाममें योनिका आधारचक्र ऊपरको उठने लगता है यही उत्तम आदिकी पहचान है ॥ ७२ ॥

१—"प्राणेनोत्सर्प्यमाणेन अपानः पीडयते यदा ।
गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्घातलक्षणम् ॥"
ऊपरसे आती हुई प्राणवायु अपानवायुको पीडित करके फिर ऊपरको आ जाय इसीका नाम 'उद्घात' है।

आरम्भावस्थामें सर्वप्रथम प्राणायाम किस रीतिसे करना चाहिये यह घेरण्डसंहितामें लिखा है :—

पूरकान्तं कुम्भकान्तं धार्यं नासापुटद्वयम् ।
कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैस्तर्जनीं मध्यमां विना ।। ७३ ।।

जबतक पूरक न पूरा हो जाय तबतक दाहिने अँगूठेसे दाहिने नासापुटको दबाये रहे और पूरकके हो जानेपर कनिष्ठा तथा अनामिका अँगुलीको परस्पर भिड़ाकर बायें नासापुटगको भी दबा ले। फिर कुम्भकके अन्तमें अँगूठेको नासापुटपरसे हटाकर रेचक करे। किन्तु इस बातका ध्यान रहे कि नासिका-पुटपर तर्जनी और मध्यमा अँगुली न लगने पायें। इसी तरह अनुलोम और विलोम रीतिसे भी करना चाहिये। यह रीति प्रथमावस्थाकी है मध्यम और उत्तम अवस्थाकी नहीं ।। ७३ ।।

वैदिक और तान्त्रिक भेद

पूरणादिरेचनान्तः प्राणायामस्तु वैदिकः ।
रेचनादिपूरणान्तः प्राणायामो हि तान्त्रिकः ।। ७४ ।।

—गोरक्ष.

जिसमें पहले पूरक करके रेचक किया जाता है उसे 'वैदिक-प्राणायाम' कहते हैं और जो रेचक करके पूरक किया जाता है उसे 'तान्त्रिक–प्राणायाम' कहते हैं ।। ७४ ।।

प्राणायामका प्रयोजन

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ।। ७५ ।।

—गोरक्ष.

प्राणवायुके निःश्वासोच्छ्वास होते रहते बिन्दु भी चलायमान रहता है और उनके बन्द हो जानेपर बिन्दु स्थिर हो जाता है, जब प्राणायाम द्वारा प्राणवायु स्थिर हो जाता है तो साधक स्थाणुभावको प्राप्त होकर दीर्घजीवी होता है इसलिये प्राणायाम करना चाहिये ।। ७५ ।।

और भी—

प्राणायामात्खेचरत्वं प्राणायामादरोगिता ।
प्राणायामाच्छक्तिबोधः प्राणायामान्मनोन्मनी ।।
आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत् ।। ७६ ।।

प्राणायाम द्वारा साधकको आकाशमार्गमें गमन करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। जिससे वह आकाशमें पक्षियोंकी तरह उड़ सकता है और उन्मनी-

शक्ति का जागरण होता है। इसीलिये साधकके चित्तमें सच्चे आनन्दकी प्रतीति होती है और वह सुखी रहता है।। ७६।।

प्राणायामका फल

ततःक्षीयते प्रकाशावरणम्[1] ।। ७७।।

—योगदर्शन.

प्राणायाम करनेसे प्रकाश (ज्ञान) का आवरण क्षीण हो जाता है। यानी प्रकाश स्वरूप ब्रह्मज्ञानको ढकनेवाला ढकना हट जाता है इसलिये ब्रह्म ज्ञानका साक्षात्कार होता है।। ७७।।

प्राणायाम द्वारा जिस प्राण वायुका निरोध किया जाता है उसके कितने भेद हैं? यह भी अवलोकन करिये :—

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः।
नागः कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः।। ७८।।

शरीरके अन्दर दश वायु हैं, जिनके नाम ये हैं—१ प्राण, २ अपान ३ समान, ४ उदान, ५ व्यान, ६ नाग, ७ कूर्म, ८ कृकल, ९ देवदत्त और १०, धनञ्जय।। ७८।।

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुह्यमण्डले।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः।। ७९।।
व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्चवायवः।
प्राणाद्या इति विख्याता नागाद्याः पञ्चवायवः।। ८०।।

—गोरक्ष.

(१) **प्राणवायु**—हृदयमें रहकर श्वास, प्रश्वासको भीतर और बाहर निकालती, एवं अन्न पानादिकोंको परिपक्व बनाती है। (२) अपानवायु—मूलाधारमें रहकर मलमूत्रको बाहर निकालती है। (३) समानवायु—नाभिमंडलमें रहकर शरीरको यथास्थान रखनेका काम करती है। (४) उदान वायु—कण्ठमें रहकर शरीरकी वृद्धि करती है। और (५) व्यानवायु—समस्त शरीरमें घूमकर ग्रहण तथा त्याग आदि अंगधर्म कराती रहती है। यद्यपि कहनेको दश वायु हैं, परन्तु मुख्य ये ही पाँच हैं।। ७९-८०।।

इन पाँचोंके अतिरिक्त जो और पाँच बतायी गयी हैं उनके कार्य निम्न-लिखित हैं :—

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः।
कृकलः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।। ८१।।

---

१ दोहा—"प्राणायाम प्रयोगते, होत विवेक प्रकाश।
तब आवरन अज्ञानतम, होत सहज ही नाश।।" —प्रभुदयालु.

न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ।
एते सर्वासु नाडीषु भ्रमन्ते जीवरूपिणः ॥ ८२ ॥

—गोरक्ष.

(१) समय समय पर डकारका आना नागवायुका कार्य है (२) नेत्रोंका पलक लगाना खोलना कूर्मवायुका (३) छींकोंका आना कृकलवायुका-(४) जँभाईका आना देवदत्तवायुका कार्य है। और (५) धनञ्जयवायु उसका नाम है जो शरीरभरमें भ्रमण किया करती है। यह वायु मृतशरीरमें भी यानी अन्य वायुओंके निकल जानेपर भी शरीरमें चार घड़ीतक और स्थिर रहती है।

उक्त अनेक नामवाली वायु शरीरगत समस्त नाडियोंमें जीवरूपसे भ्रमण किया करती है इसीको 'जीव' भी कहते हैं। यद्यपि अविद्यावच्छिन्न जीवका घूमना फिरना नहीं होना चाहिये, तो भी जलके हिलनेसे जैसे चंद्रमा हिलतासा दीख पड़ता है ऐसे ही व्यवहार दशामें वायुरूपसे घूमना, यानी दश प्रकारकी उपाधि जीव चैतन्यमें आरोपित होता है, पर वास्तवमें ऐसा नहीं है ॥ ८१–८२ ॥

उपरोक्त दश प्रकारकी वायुमेंसे पहले की पांच मुख्य मानी गयी हैं पर प्राणायाम क्रियामें दो ही वायुका प्राधान्य है—एक तो प्राणवायु और दूसरी अपानवायु। जब आसन आदि साधनसंपन्न साधक ऊपरसे प्राणवायुको उदरकी ओर ले आता है और गुह्यस्थानकी ओरसे अपान वायुको ऊपरकी ओर खींचता है तब दोनों (प्राण, अपान) वायु बीचमें परस्पर टकराकर सुषुम्णानाडीके मध्यमें प्रविष्ट होकर कुण्डलिनी शक्तिको जगाती हैं और अन्तमें जगाकर ही मानती हैं। उस कुण्डलिनीके जागृत होनेपर प्राणवायुको ब्रह्मरन्ध्रमें जान मिलता है और ब्रह्मरन्ध्रमें प्राणवायु जाकर ब्रह्मानन्दका साक्षात्कार कर अनुत्तम सुखकी प्राप्ति करता है। इसलिये मुख्य दो ही वायु हैं।

उक्त कुण्डलिनीके विषयमें महात्मा श्रीस्वात्मारामजीने यों लिखा है :—

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥ ८३ ॥

वन एवं पर्वतों सहित पृथ्वीको जैसे शेष नाग अपने मस्तकोंपर धारण किये रहते हैं वैसे ही योगके समस्त उपायोंका आधार कुण्डलिनी शक्ति है।

यही कारण है कि उसके बोध विना योगसम्बन्धी समस्त उपाय अधूरे रह जाते हैं॥ ८३ ॥

कुण्डलिनीके जागृत होनेके लिये आपने लिखा है कि मुद्राओंका अभ्यास करना चाहिये।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदासर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपिच ॥ ८४ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ८५ ॥

--हठयोगप्रदीपिका.

गुरुकी कृपा एवं अपने अभ्यासबलसे जब कुण्डली शक्तिका जागरण होता है तब समस्त पद्म यानी षट्चक्र विकसित हो जाते हैं और ब्रह्म आदि ग्रन्थियाँ भी खुल जाती हैं। इसलिये उस कुण्डलिनीको जो ब्रह्मद्वारको रोके हुए सो रही है जगाना हो तो प्रयत्नपूर्वक मुद्राओंका अभ्यास करना चाहिये ॥ ८४-८५ ॥

मुद्राओंका लक्षणसहित वर्णन निम्नलिखित है :—

मुद्राओंके भेद

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ॥ ८६ ॥
विपरीतकरी योनिर्वज्राणी शक्तिधारिणी ।
ताडागी माण्डवी मुद्रा शाम्भवी पंचधारिणी ॥ ८७ ॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजंगिनी ।
पंचविंशतिसंख्याका मुद्राः प्रोक्ता महर्षिभिः ॥ ८८ ॥

घेरण्डसंहिताकार पच्चीस प्रकारकी मुद्रा लिखते हैं कि—१ महामुद्रा २ नभोमुद्रा, ३ उड्डीयानबन्ध, ४ जलन्धरबन्ध, ५ मूलबन्ध, ६ महाबन्ध, ७ महावेध, ८ खेचरी, ९ विपरीतकरणी, १० योनिमुद्रा, ११ वज्राणी, १२ शक्तिधारिणी, १३ ताडागी, १४ माण्डवी, १५ शाम्भवी, १६ पार्थिवधारिणी, १७ आम्भसीधारिणी, १८ वैश्वानरीधारिणी, १९ वायवीधारिणी २० नभोधारिणी, २१ अश्विनी, २२ पाशिनी, २३ काकी, २४ मातङ्गी और २५ भुजंगिनी, इन भेदोंसे मुद्राके पच्चीस नाम महर्षियोंने वताये हैं ॥ ८६-८८ ॥

(१) महामुद्राकी विधि

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य यत्नतो दृढम् ।
याम्यपादं प्रसार्याथ करैर्धृतपदाङ्गुलिः ॥ ८९ ॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधा एषा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥ ९० ॥
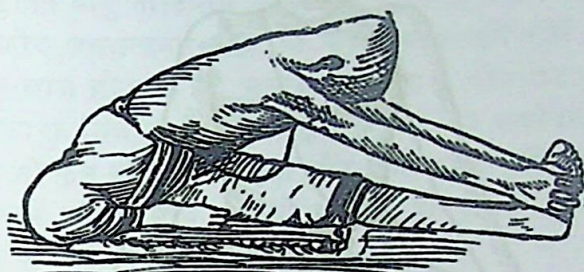
बायें पैरकी एडीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ लगाकर दाहिने पैरको दण्डाकार फैलाकर एड़ी भूमिपर रख दे, फिर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको परस्पर भिड़ाकर दाहिने पैरकी अँगुलियोंको पकड ले और कंठको सिकोड कर भौंहोंके मध्यभागको निश्चल दृष्टिसे देखता रहे । इस प्रकारकी क्रियाका नाम महात्माओंने 'महामुद्रा' बताया है। इसका अभ्यास अनुलोप और विलोम रीतिसे अर्थात् बायें अंगसे करके उसी तरह दाहिने अंगसे भी करना चाहिये । इस मुद्राके लगानेका फल यह होता है कि—"ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्। तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥" इडा और पिंगला नाडीको त्यागकर प्राणवायुको कुंडलीके पास सरलतासे पहुँ-चानेके लिये सुषुम्णा नाडीवाला मार्ग उपस्थित हो जाता है, इसलिये कुंडलीके जगानेका अनुकूल अवसर प्राप्त हो जाता है ॥ ८९-९० ॥

(२) नभोमुद्राकी विधि

यत्रतत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं शनैः ॥
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥ ९१ ॥

जब कभी साधकको इच्छा हो तब ऊपरको जीभ निकाल कर धीरे २ वायुको खींचकर कुम्भक करे। यह समस्त रोगोंके नाश करनेवाली 'नभोमुद्रा' नामक मुद्रा कहाती है ॥ ९१ ॥

(३) उड्डीयान बन्ध

उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ।। ९२ ।।

दोनों जानुओंको मोड़कर पैरोंके तलुओंको परस्पर भिडाकर उसीके सहारे बैठ जाय । फिर उदरगत नाभिचक्रके नीचे तथा ऊपरके भाग का आकर्षण इस प्रकार करे कि दोनों भाग जाकर पृष्ठभागमें लग जायँ । इसमें नाभिके ऊपरी और निचले भागका तनाव होता है, इस तनावसे सुषुम्णा नाडीके मध्य जानेके लिये प्राणवायुका मार्ग जो अवरुद्ध रहता है वह अनुकूल हो जाता है, अत एव सुखपूर्वक सुषुम्णाकी ओर प्राण–पक्षी उड जाता है, इसी लिये इस बन्धका अन्वर्थ नाम 'उड्डीयान[१]' रखा गया है । यह बन्ध दृढ अभ्यस्त हो जाने पर मृत्युरूप मतवाले हाथीके साथ सिंहकासा व्यवहार करता है और बूढोंको भी जवान बना देता है ।। ९२ ।।

(४) जालन्धर बन्ध

कण्ठमाकुच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशन: ।। ९३ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

१—'सुषुम्णायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम् । 'डीङ्' विसहाय सा गतौ' इत्यस्मात्करणे ल्युट ।' करणेमें डी धातुसे ल्युट् प्रत्यय होकरयह शब्द सिद्ध होता है और जिसके द्वारा बँधा हुआ प्राण सुषुम्णामें जाता है, यही इसका वाच्यार्थ है ।

कंठको सिकोडकर अपने चिवुक (ठोढी) को हृदयकी ओर लेजाकर इस प्रकार दृढ स्थापित कर दे कि हृदयसे ठोढीका अन्तर केवल चार अंगुलका रहे। यह बन्ध जाल यानी नाडियोंके समूहको बाँधे रहता है, अथवा कपाल-कुहरसे गिरकर नीचे जाकर जठराग्निको मन्द कर देनेवाले जलबिन्दुका बन्धन किये रहता है इसलिये इसका अन्वर्थ नाम 'जालन्धर[1]' कहा गया है। नाडियोंके बँधे रहनेसे कुपित वायु नाडियोंमें जाकर किसी तरहका विकार नहीं उत्पन्न करने पाती और जलवन्धनसे जठरानि कभी मन्द नहीं होने पाती, जिससे साधकको यह लाभ होता है कि मृत्युभय, बूढ़ापन, रोग एवं आलस्य आदि उपद्रवोंसे छुटकारा मिल जाता है। इसमें कंठका जो संकोचन किया जाता है उसका यह भी फल होता है कि इडा और पिंगला नाडियोंके स्तम्भन होनेके कारण सुषुम्णामें जानेके लिये प्राणको सहजमें ही रास्ता खुल जाता है—जिसका फल कुण्डलीका बोधन होता है॥ ९३॥

(५) मूलबन्ध

प्रार्ष्णिभागेन संपीडच योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोभिधीयते॥ ९४॥

—हठयोगप्रदीपिका.

दाहिनी अथवा बाईं एडीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ़ लगाकर गुदामार्गके आकुञ्चन द्वारा अधोगत अपान वायुको ऊपरकी ओर ले जाय। इस मूल (गुदा) के आकुञ्चनसे अपान वायुका ऊर्ध्वगमन होकर प्राणके साथ संयोग होता है, दोनोंको सुषुम्णा नाडीमें जानेका अवसर मिलता है, इसका नाम 'मूलवन्ध' है। इस बन्धके लक्षणमें योगबीजकारने 'अश्वकी तरह वारं-वार आकुञ्चन करे' इतना विशेष लिखा है, बाकी सब समान है। इसके करनेसे जव अपान और प्राणवायु परस्पर मिलकर सुषुम्णामें प्रविष्ट होती हैं तो नाद और बिन्दुका भी मिलाप हो जाता है। जिसका फल यह होता है कि साधक नीरोग रहकर योगसिद्धि प्राप्त करता है॥ ९४॥

(६) महाबन्ध मुद्रा

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥ ९५॥

---

१ जाल = समूह (नाडीसमूह)। जाल = जल संबन्धी (जलबिन्दु) जालं + धरतीति विग्रहः।

पुरयित्वा ततौ वायुं हृदयं चिबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य पायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ।। ९६ ।।

बायें पैरकी एडीको गुदा और लिङ्गके मध्यमागमें लगाकर बायीं जंघाके ऊपर दाहिने पैरको रखकर दृढतापूर्वक बैठ जाय । फिर जालन्धर बन्ध लगाकर अर्थात् कण्ठको संकुचित कर ठोढीको चार अंगुलका बीच रखकर हृदयके सामने दृढ़ स्थापित कर पूरक प्राणायाम करे । और गुदाका आकुञ्चन यानी मूलबन्ध करके मनको मध्यनाडीमें प्रविष्ट करे । फिर उस पूरक द्वारा उदरमें गयी हुई वायुका यथाशक्ति धारण कर धीरे २ रेचन करे । जबतक अनुलोम, विलोमसे इस क्रियाका अभ्यास न हो जाय तबतक युक्तिपूर्वक अभ्यास करता रहे । 'महाबन्धःमुद्रा' से गंगा, यमुना और सरस्वती नामवाली नाडियोंका संगम होता है, एवं मन शिवस्थानमें जा पहुँचता है ।। ९५-९६ ।।

जैसे रूपलावण्य संयुक्त युवावस्थावाली स्त्री विना पुरुषके निष्फल रहती है ऐसे ही महावेधके विना महाबंध और महामुद्रा भी व्यर्थ हो जाती हैं, इसलिये जिज्ञासुओंके निमित्त घेरण्डसंहितासे यहाँ पर उसका लक्षण उद्धृत करता हूँ —

(७) महावेध

महाबन्धं समास्थाय उड्डानकुम्भकं चरेत् ।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ।। ९७ ।।
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ।। ९८ ।।

महावंधको करके उड्डानबन्धपूर्वक कुम्भक करना चाहिये, परन्तु कुम्भक करते हुए इस बातका ध्यान अवश्य रहे कि दोनों हाथोंके तलुओंको भूमिमें लगाकर नितम्बको ऊपर और नीचे धीरे २ युक्तिपूर्वक उठाये और छोड़े। इस तरह करनेसे इड़ा पिंगला नाडियोंको छोडकर वायु सुषुम्णामें प्रवेश करती है ।। ९७-९८ ।।

(८) खेचरीमुद्राका लक्षण

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी ।। ९९ ।।

महात्मा स्वात्मारामजी खेचरी मुद्राका निरूपण इसप्रकार लिखते हैं कि--कपालके कुहर (छिद्र) में उलट देनेपर जिह्वा यदि प्रविष्ट हो जाय,

एवं भ्रुकुटियोंके मध्यमें दृष्टिका प्रवेश हो जाय तो इसीका नाम 'खेचरी-मुद्रा' है ।। ९९ ।।

जिह्वाका प्रवेश कपाल--कुहरमें किस क्रियासे होने लगता है यह भी स्वयं कहते हैं --

खेचरीसिद्धिके उपाय

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ।। १०० ।।

जबतक जिह्वा इतने परिमाणमें न बढ़ जाय कि भ्रुकुटीके मध्यमभागको छू लिया करे, तबतक जिह्वा बढ़ाने के लिये १ दोहन, २ चालन और ३ छेदन; ये तीन क्रियाएँ करनी चाहिये ।

इन क्रियाओंकी रीति इस प्रकार है :—

(१) प्रात:काल जब दन्तधावन कर चुके तब जीभमें मक्खन लगाकर उसे दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे धीरे २ इस तरह दुहे कि जैसे गौ दुही जाती है । इसे 'दोहन' कहते हैं । (२) अँगूठे और तर्जनी अँगुलीसे जिह्वाको पकड़कर चारों तरफ उलटफेर कर हिलाइये । इसीका नाम 'चालन' है । और (३) सेंहुड़ (स्नुही पत्र) के आकारवाले तीक्ष्ण शस्त्रसे आठवें आठवें दिन जिह्वाके नीचे जो शिरा रहती है उसे जितने आयामका वाल (रोम) होता है उतने परिमाणमें छेदन करे । इसीको ,छेदन' कहते हैं । छेदनके बाद उसी घावपर सैंधव, नमक, अथवा कत्था और हरडका चूर्ण घिसना चाहिये । कोई २ तो तो छेदन न करके केवल औषध द्वारा ही काम लेते हैं। जो साधक छेदन करते हैं उन्हें प्रत्येक अठवड़ेमें क्रमशः थोड़ी २ घावकी मात्रा बढ़ाते जाना चाहिये । जैसे–पहले अठवाड़ेमें वालप्रमाण घाव हो तो दूसरे में इससे कुछ अधिक होन चाहिये । उपरोक्त रीतिसे छः महीनेतक लगातार करते करते जिह्वा बढ़कर उपयोगमें आने लगती है, यानी जिह्वाकी लम्बाई इतनी हो जाती है किभ्रूम-ध्यको अच्छे प्रकार छू सकती है । तब साधकको चाहिये कि जिह्वाको उलटकर कपालकुहरमें प्रविष्ट करे वहाँ तीनों नाड़ियोंके जो छिद्र रहते हैं उनमें सुषुम्णाके छिद्रसे जो अमृत बिन्दु टपकता रहता है उसे जिह्वाग्रसे पान करे ।। १०० ।।

इस अमृत बिन्दुके पानसे साधक निरामय होकर अजर, अमर हो जाता है । तथा :—

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्पर्शिनी,
सक्षाराकटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।

व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं,
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।। १०१ ।।

—हठयोगप्रदीपिका

जब पूर्वोक्त क्रियाओं द्वारा जिह्वा कपालकुहरमें जाती है तो सर्व प्रथम लवणके समान स्वाद प्रतीत होता है, एवं फिर क्रमशः कडुआ, अम्ल और दूध मधु, घीका स्वाद आने लगता है। यदि घीका स्वाद आने लग जाय तो समझ लेना चाहिये कि खेचरी मुद्रा सिद्ध हो गयी। इस मुद्रासे चंद्र (वाम), नाडीगत अमृतबिन्दु (जिसे 'अमरवारुणी' भी कहते हैं) पान करनेको मिलने लग जाता है इसलिये जरा, मरण, शत्रुसे भय और रोगोंसे छुटकारा मिल जाता है तथा अणिमा आदि अष्टसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।। १०१ ।।

इसकी प्रशंसामें और भी लिखा है कि :—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ।। १०२ ।।

गो शब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ।। १०३ ।।

—हठयोगप्रदीपिका

जो साधक प्रतिदिन तालुके समीप ऊर्ध्वविरमें जिह्वाको प्रविष्ट करके अमरवारुणीका पान करता है उसे ही स्वात्मारामजी कुलीन मानते हैं, हैं, अन्य इतरोंको कुलघातक बताते है, क्योंकि इसके विना वे योगसिद्धि मानते ही नहीं ।। १०२–१०३ ।।

(९) विपरीत करणीमुद्रा

नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः ।
अमृतं ग्रहते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ।। १०४ ।।

ऊर्ध्वं च गमयेत्सूर्यं चन्द्रं च अध आनयेत् ।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।। १०५ ।।

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मे समाहितः
ऊर्ध्वपादो दृढीभूत्वा विपरीतकरी मता ।। २० ।।

—घेरण्डसंहिता

नाभिके मूलमें सूर्यनाडीका निवास है और तालुमूलमें चन्द्रनाडीका स्थान है। जब चंद्रगत अमृतको अपने तेजसे सूर्य पान कर जाता है तो मनुष्य किसी न किसी दिन मरणावस्थाको प्राप्त हो जाता है इसलिये 'विपरीतकरणी' मुद्रा करनी चाहिये। इसकी क्रिया इस तरह है कि—जिसपर शिर सुखपूर्वक टिक सके ऐसी कपड़ेकी गिंडुरी बनाकर उस पर शिरको दृढ स्थापित कर दोनों हाथोंको शिरकी दोनों ओर लगा ले, और दोनों पैर दंडाकार सीधा ऊपरको उठाये रहे। इस क्रियामें चन्द्र नीचे और सूर्य ऊपर हो जाता है यानी ऊपर का नीचे एवं नीचेका ऊपर होता है, अतएव इस मुद्राका अन्वर्थ नाम 'विपरीत-करिणी' है। इसके करनेसे त्वचाका सिकुड़ना और बालोंका श्वेत होना नहीं होता, अर्थात् वृद्धावस्था नहीं आने पाती। इतनाही नहीं, किन्तु निरंतर एक प्रहर पर्यन्त इस क्रियाके करनेवाला मनुष्य मृत्युको भी जीत लेता है। परन्तु खेचरी मुद्राके सामने इसका महत्त्व नहीं के बराबर है; क्योंकि इसे साधकर जो काम सिद्ध करना है वह पूर्णतया उसीसे होता है, इससे नहीं ॥ १०४–१०६ ॥

(१०) योनिमुद्रा

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखम् ।
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामिकाभिच्च साधयेत् ।। १०७ ।।
प्राणंसंकृष्य काकीभिरपाने योजयेत्ततः ।
षट्चक्राणि क्रमाद्धयात्वा हुं हंसं मनुना सुधीः ।।
चैतन्यमानयद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी ।। १०८ ।।

—घेरण्डसंहिता.

पहले सिद्धासन लगाकर दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियोंसे नेत्रोंको, दोनों मध्यमाओंसे दोनों नाकके छिद्रोंको और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठिकाओंसे दोनों ओठोंको बन्द करके काकी मुद्रा द्वारा अर्थात् जिह्वाको कौवेकी चोंचके समान बनाकर उसके द्वारा प्राणवायुको खींचकर अधोगत अपान वायुके साथ उसका मेलन कर दे। फिर क्रमशः षट्चक्रगत ज्योतिके ध्यानपूर्वक 'हूं' हंसः' इन अक्षरोंको जपता हुआ परस्पर मिली हुई वायुओंको ऊपर लेजाकर सोती हुई कुण्डलीको जगा दे। इस प्रकारकी क्रियाको 'योनि-मुद्रा' कहते हैं और इसीका नाम 'षण्मुखी-मुद्रा' भी है ।। १०७–१०८ ।।

(११) वज्रोलीमुद्रा

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ।। १०९ ।।

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ११० ॥
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १११ ॥

वज्रोली मुद्राके सिद्ध करनेमें दो वस्तुओंकी नितान्त आवश्यकता है, एक तो दूध और दूसरी अपने वशमें रहनेवाली स्त्री; विना इनके यह मुद्रा नहीं की जाती। लिङ्गके छिद्रमें वायुके संचार करनेके लिये उत्तम नालसे धीरे धीरे यत्नपूर्वक फूत्कार करना चाहिये।

वज्रोलीका क्रम इस प्रकार है कि—शीशेकी शलाका (शलाई) लिङ्गके छिद्रमें प्रवेश करनेके योग्य चौदह अंगुलकी बनवाकर उसमें प्रवेश करनेका अभ्यास क्रमशः धीरे २ बढ़ाये। जैसे— पहले दिन एक अंगुल, दूसरे दिन दो, तीसरे दिन तीन, इस प्रकार बढ़ाते २ बारह अंगुलतक प्रविष्ट करनी चाहिये। इतना होने लगे तब चौदह अंगुलकी ऐसी सलाई बनवाये– जो दो अंगुल डेढी और ऊर्ध्वमुखी हो। परंतु यह शलाका पोली होनी चाहिये। इसे भी दो अंगुलवाले टेढ़े भागको बाहर रखकर छिद्रमें प्रविष्ट कर दे। फिर सुनारकी धमनीके समानवाली धमनीसे उस शलाकामें लगाकर फूत्कार करे (फूंके)। ऐसा करनेसे लिंगके मार्गकी अच्छी तरह शुद्धि हो जाती है, तब लिंग द्वारा वायुका खींचना और छोड़ना बड़ी आसानीसे पर्याप्त मात्रामें होने लगता है। इस तरह उक्त अभ्यासके सिद्ध होनेपर साधक अपने लिंगछिद्रसे सर्वप्रथम जल खींचनेका अभ्यास करे, कुछ दिनोंके बाद दूधका आकर्षण करे, एवं फिर तेल और तेलके बाद पारा खींचने लग जाय।

जब शुद्ध रीतिसे पारेके आकर्षणकी शक्ति हो जाय तो–"नारीभगे पतद्विन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्। चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।" स्त्रीकी योनिमें गिरे हुए वीर्यबिन्दुके आकर्षणका अभ्यास करे। अर्थात् संभोगकी अन्तिम अवस्थामें वीर्य पतनोन्मुख होने लगे तो उसे इस प्रकार ऊपरको आकर्षित करे कि योनिमें न गिरने पाये। कदाचित् वीर्य गिर ही पड़े तो योनिमेंसे उसे पूर्वोक्त क्रियाके अभ्यास बलसे ऊपरको खींच ले।

इस क्रियाको सिद्ध करके साधक लोग स्त्रीसे सहवास करते हुए अपने वीर्यको मुद्राकी शक्तिसे गिरने नहीं देते, और स्त्रीके रजको मुद्रा– बलसे ऊपरको खींचकर अपना मस्तिष्क भरापुरा कर लेते हैं। फल यह होता है कि स्त्रीभोगजन्य विपत्तियाँ फिर उन्हें नहीं भोगनी पड़तीं। और उक्तक्रियासे

वे अपने वीर्यकी रक्षा कर अजर अमर बन जाते हैं। क्योंकि—'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'। वीर्यके पतनसे ही देहका पात होता है, अन्यथा नहीं। इस मुद्राको वही कर सकता है जो प्राण और मनको वशमें कर लेता है।। है।। १०९—१११ ।।

अब इसके आगे शक्तिधारिणा आदि शेष मुद्राओंका उल्लेख नहीं करूँगा, दश मुद्राएँ मुख्य हैं उनका सविस्तर निरूपण कर दिया गया है। इन्हीं दश-मुद्राओंको श्रीस्वात्मारामजीने भी लिखा है। और इन्ही मुद्राओं द्वारा कुण्ड-लिनीका जारण होता है जिससे साधकको सिद्धता प्राप्त होती है।।

प्रकरणका उपसंहार

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ।। ११२ ।।
न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ।। ११३ ।।

रेचक और पूरकके विना जो कुम्भक होता है उसीको 'केवल कुम्भक' अथवा 'प्राणायाम[1]' कहना चाहिये। जो मनुष्य उक्त दोनोंके विना कुम्भक कर सकता है यानी प्राणायामको सिद्ध कर लेता है उसे तीनों लोकोंमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो न प्राप्त हो सके। इसी कुम्भककी सिद्धावस्थासे साधक प्रत्याहार करने लग जाता है।। ११२—११३ ।।

इति श्रीपण्डित शिवनाथशर्मात्मज—पं० रामनरेशमिश्र 'प्रेम' विरचिते भाषाटीकायुते बृहद्योगसोपाने चतुर्थसोपान-प्रकरणं समाप्तम् ।।

पंचम सापोन प्रकरण

प्रत्याहारका निरूपण

"मुझे निरन्तर सुख ही सुख मिला करे, दुःख किसी भी कालमें न उपस्थित हो" ऐसी इच्छाका होना अन्तः—करणका स्वाभाविक धर्म है। इसलिये प्रत्यक्ष सुख देनेवाले विषयोंकी शरण जाना भी चित्तका स्वाभाविक हो जाता हैं, क्योंकि दृष्ट पदार्थको त्यागकर अदृष्ट पदार्थकी ओर जानेमें अनेक तरहकी बाधाएँ उपस्थित हो जाया करती हैं। जिसके कारण पहले तो अदृष्टकी कल्पना करना ही दुर्लभ हो जाता हैं, दूसरे उसकी कल्पना करके उस ओर

---

१ प्राणायामके विषयमें विशेष जाननेकी इच्छा हो तो हठयोगप्रदीपिका का अवलोकन करना चाहिये।

जाने भी लगे तो काम, क्रोध, मोह, आदि शत्रुओंके ऐसे कठिन वार पड़ने लगते हैं कि उन्हें आत्म लसे प्रयत्न द्वारा रोकना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने अर्जुनके प्रति तीन प्रकारका सुख बताते हुए कहा है :—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।। १ ।।

—भगवद्गीता.

विषयेन्द्रियके संयोगसे जो सुखका भान होता है वह पहले अमृतके समान प्रिय अवश्य लगता है परन्तु अन्तमें वह विषके रूपमें परिणत हो जाता है और जीवात्माके लिये वड़ी भारी हानि पहुँचाता है। तमोगुण और रजोगुणके आधिपत्यमें विषयसुखकी इच्छा प्रबल होकर बलात् अपनी ओर खींचे रहती है और सत्त्वगुणकी प्रभुतामें अदृष्ट सुखकी कल्पना तथा उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न (उपाय) करनेका सौभाग्य प्राप्त होता है ।। १ ।।

गत चार प्रकरणोंमें जो अदृष्ट सुखकी ओर जानेके लिये सोपान-मार्ग बताये गये हैं उनपर कटिवद्ध होकर चलनेके लिये जो युक्तियाँ अथवा क्रियाएँ कही गई हैं उन्हें यथाक्रम अभ्यास द्वारा सिद्ध कर लेनेपर विषयसुखकी ओर घृणासी उत्पन्न हो आती है, इसलिये चारों ओरसे हटकर एकाग्र होनेकी योग्यता मनको प्राप्त हो जाती है। ऐसी अवस्थामें ही प्रत्याहार करनेकी मनुष्यमें योग्यता होती है। इसलिये पूर्वाचार्योंने प्रत्याहारको पाँचवाँ स्थान देना उचित समझा है। कारण यह है कि विना कुम्भक प्राणायाम सिद्ध हुए अपने अपने विषयोंमें अनुरक्त इन्द्रियोंका प्रत्याहार करना यानी रोकना वास्तवमें नहीं हो सकता। इसलिये प्राणायामके बाद ही प्रत्याहारको स्थान पाना उचित था। अत एव प्राणायाम प्रकरणके बाद प्रत्याहार प्रकरणका निरूपण करता हूँ :—

प्रत्याहारका लक्षण

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ।
बलदाकर्षणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ।। २ ।।

—याज्ञवल्क्य.

स्वभावतः अपने अपने विषयोंमें विचरण करती हुई इन्द्रियोंका बलपूर्वक एकाएकी आकर्षण (खींचना) 'प्रत्याहार' कहाता है ।। २ ।।

अथवा—

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपा-
नुकार इवेन्द्रियाणां प्रात्याहारः ।। ३ ।।

—योगदर्शन २ पा. ५४ सू.

विषयोंसे चित्तके निवृत्त होनेमें जैसा चित्तका स्वरूप होता है वैसा ही इन्द्रियोंकी एकाग्रता होना 'प्रत्याहार' होता है ।। ३ ।।

मात्रा—

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ।। ४ ।।
यथा तृतीयकालस्थो रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम् ।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं तथा ।। ५ ।।

—गोरक्षपद्धति.

घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और कर्ण, इन पाँच इन्द्रियोंके जो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, एवं शब्द; ये पांच विषय हैं उन्हें यथाक्रम साधनों द्वारा धीरे २ त्याग करना यानी इन्द्रियोंसे उनके विषयोंका अनुभव करके फिर विषयोंसे इन्द्रियोंको हटाना 'प्रत्याहार' कहाता है। जैसे संध्या समयमें सूर्य अपनी किरणोंको क्रमशः अपहरण कर लेता है ऐसे ही योगके तीसरे अङ्ग (आसन) में स्थित होने, एवं प्राणायाम सिद्ध कर लेने पर अपने मानसिक विकारोंको यानी विषयोंकी ओरसे मनको हटाकर स्वरूप की ओर लगाना प्रत्याहार कहा जाता है ।। ४–५ ।।

अङ्गमध्ये यथाङ्गानि कूर्मः संकोचयेद्ध्रुवम् ।
योगी प्रत्याहरेदेवमिन्द्रियाणि तथात्मनि ।। ६ ।।

—गोरक्षपद्धति.

जैसे कछुआ अपने शिर, पैर आदि अङ्गोंको सिकोड़कर अपने भीतर छिपा लेता है वैसे ही योगीको भी चाहिये कि अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर उनकी वृत्तियोंको आत्मामें अनुरक्त करे। जब १० मिनट तक वायुको नर्विघ्नताके साथ ठहरना हो सके तभी प्रत्याहार करनेकी योग्यता समझनी चाहिये अन्यथा नहीं। उत्तर समयतक जब वायु ठहरने लगती है तो चित्तका चांचल्य नष्टप्राय हो जाता है। जब साधक ऐसी अवस्थापर पहुँच जाता है और जिस समय वायुका प्रत्याहार करता है तो बाहर लोगोंके देखनेमें यही

मालूम होता है कि इस शरीरसे वायु निकल गया है। जब ऐसा होने लगे तो जान लेना चाहिये कि प्रत्याहार सिद्ध होगया और प्राणवायुका ऊर्ध्वगमन हो सकेगा ॥ ६॥

इसकी उपयोगिता — 'स्वभावतः अपने अपने विषयोंमें आसक्त होकर विचरनेवाली इन्द्रियोंका रोकना' प्रत्याहारका लक्षण बताया गया है। अभ्यास द्वारा धीरे धीरे इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लेने पर द्वन्द्व–जनित पापोंके भोगनेसे छुटकारा मिल जाता है। जैसे–सुन्दर स्त्री, सोने, चांदी आदिके आभूषण, स्वच्छ चिकने विचित्र वस्त्र, इसी तरह और भी अनेक मोहक वस्तुओंके देखनेकी इच्छा जिसके मनमें निवृत्त हो जाती है वह संसारी पदार्थोंको भले ही अपने चर्मचक्षुओंसे देखता रहे, पर देखनेके परिणाम फलके बन्धनमें नहीं हो सकता। ऐसे ही अन्य इन्द्रियोंके विषयमें भी जानना चाहिये।

विषय–सुखोंमें आसक्त होकर हि जीव अपना बड़ा भारी अहित कर रहा है। इस विषयमें निम्नलिखित श्लोक सिद्ध है:—

कुरङ्गमातङ्ग–पतङ्ग–भृङ्ग–
मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते,
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥ ७॥

हरिन, हाथी, पतंग(पाँखी), भ्रमर और मछली; ये प्रत्येक एक ही एक इन्द्रियमें आसक्त होनेके कारण मारे गये अथवा मारे जाते हैं तो जो प्राणी या मनुष्य पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहता है वह यदि मारा जाय तो क्या आश्चर्य है। मतलब यह कि विषयासक्त जीवोंको किसी तरह भी वास्तविक सुख नहीं मिल सकता। इसलिये विषय–सुखका त्याग ही स्थायी सुखका साधन होता है। इसीसे तो ब्रह्मा, शिव, नारद और वशिष्ठ आदिकोंने विषय–सुखको ठुकराकर योगके प्रत्येक सोपान पर ही यथायोग्य समय समय पर दृढ़ स्थिर होकर अक्षयकीर्ति एवं अनन्त सुखका लाभ उठाया है। इसलिये विचारशील प्राणियोंको कर्तव्य ही नहीं, बल्कि परमपुरुषार्थ है कि अनन्त सुखकी प्राप्तिके लिये क्षणिक विषयसुखोंको त्यागकर योग–मार्गकी ओर जानेके लिये भरसक प्रयत्न करें ॥ ७॥

इति श्रीपण्डित शिवनाथशर्मात्मज–पं० रामनरेशमिश्र 'प्रेम' विरचिते भाषाटीकायुत बृहद्योगसोपाने पंचम–प्रकरणं समाप्तम्

षष्ठ सोपान प्रकरण

धारणाका निरूपण

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।
प्रत्याहारेण सम्पन्नो धारणां च समभ्यसेत् ।। १ ।।

—गोरक्षपद्धति.

आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारका अभ्यास दृढ स्थिर करके धारणाका अभ्यास करना चाहिये ।। १ ।।

धारणाका लक्षण ।

हृदये पञ्चभूतानां धारणा च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते ।। २ ।।

—गोरक्षपद्धति.

हृदयमें मनको और पृथ्वी, जल, तेज वायु तथा आकाश इन पाँच महाभूतोंको पृथक् २ स्थानोंमें धारण करना 'धारणा' कहाती है ।। २ ।।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।। ३ ।।

—योगदर्शन —३ पा० १ सू०

किसी योग्य ध्येय देशमें चित्तको एकाग्र करना 'धारणा' कही जाती है ।। ३ ।।

धारणाके लक्षणमें जो पञ्चतत्त्वोंका अलग २ धारण करना कहा गया है उसका विवरण निम्नलिखित प्रकार है :—

पैरसे लेकर जानुपर्य्यन्त पृथ्वी तत्त्वका स्थान है, जानुसे नाभितक जलतत्त्वका स्थान है, नाभिसे हृदय तक अग्नितत्त्वका स्थान है, हृदयसे भ्रूमध्यतक वायुतत्त्वका स्थान है और भ्रूमध्यसे ब्रह्मरन्ध्रतक आकाशतत्त्वका स्थान है।

पृथ्वी स्थान—के विषे प्राणवायुको धारण कर 'लं' बीजसहित चतुर्भुजाकार, सृष्टिकी रचना करनेवाले ब्रह्माका ध्यान धरकर "धारणा पंचनाडीभिः" इस कथनानुसार पाच घड़ीतक धारणा करनेसे साधकके शरीरमें रहनेवाले सब प्रकारके रोग नष्ट हो जाते हैं और पृथ्वी तत्त्व उसके वशमें हो जाता है ।

जलस्थान—के विषे प्राणवायुका निरोध करके 'वं' बीजके साथ नारायणकी चतुर्भुजाकार मूर्तिका अनुभव करे। चित्त और प्राणको लय करके पाँच घटी पर्यंन्त धारणकरनेसे जलस्तम्भन करनेवाली 'वारुणी' शक्तिकी

---

१ दोहा—"किसी देशमें चित्तको, बंधन बृढतर होइ ।
डिगाहि नाहि, निश्चल रहै, समुझु 'धारणा 'सोइ ।"

उपलब्धि होती है, यानी जलतत्त्व वशमें हो जाता है। इस धारणाके सिद्ध हो जाने पर साधकके लिये जलके ऊपर भूमिपर जैसे चलना तो बायां हाथका खेल ही होता है, किन्तु साधकके शरीरमें प्रविष्ट हुआ कालकूट विष कुछ भी नहीं बिगाड कर सकता।

अग्निस्थान—में प्राण वायुको रोककर 'रं' बीजके सहित त्रिनेत्रधारी, तरुणादित्यके समान तेजस्वी श्रीशंकरजीका ध्यान धरकर अनुभव करे। इस प्रकार पाँच घटी पर्यन्त करनेसे 'वैश्वानरी' शक्ति साधकके वशमें हो जाती है। इसलिए उसको कहीं भी और किसी भी स्थानमें अग्नि द्वारा जलने आदिका कुछ भय नहीं रहता। बल्कि साधकमें यह शक्ति हो आती है कि विना अग्निके ही सारी वस्तुओंको वह जला सकता है।

वायुस्थान—में प्राणवायुको रोककर 'यं' बीजके सहित सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी, शान्तस्वरूप, सर्वशक्तिमान् त्रैकालद्रष्टा ईश्वर (विष्णु) के स्वरूपका अनुभव करे। इस स्थानपर पाँच घटी तक अविच्छिन्न वायुके दृढ स्थिर होनेपर 'वायवी' शक्ति वशमें हो जाती है। फल यह होता है कि साधकको आकाश–मार्गमें गमन करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। जिसके प्रभावसे वह किसी भी अपने अभीष्ट स्थानपर पक्षीकी तरह उड़कर चला जाया करता है। और वस्तुमात्र ही क्या, सारे जगत्को कुम्भारकी चाककी तरह घुमा सकता है।

आकाशस्थान—में प्राणवायुको स्तम्भित कर 'हं' बीजके सहित आकाश-स्वरूप श्रीशंकरजीके स्वरूपका चिन्तन करे। पाँच घटी तक इस स्थानपर वायु स्थिर होने लगती है तो 'नभोधारणा' शक्ति पर साधकका अधिकार हो जाता है, यानी आकाश–तत्त्व वशमें हो जाता है। इस धारणाके सिद्ध हो जाने पर मोक्षका मार्ग खुल जाता है और समस्त रसोंके शोषण करनेकी शक्ति हो आती है।

जब पाँच घटी पर्यन्त धारणा होने लगती है तो भूतोंकी भावना होती है। परन्तु जिस समय चित्तको एकाग्र करके साधक धारणाका अभ्यास करता है तो उस समयमें अनेक प्रकारकी वाधाएँ उपस्थित हुआ करती हैं। जैसे–यक्षिणी (डाकिनी) आदि अपना अपना मनोहर रूप दिखाकर मोहित करना चाहती हैं, अथवा सिंह व्याघ्र जैसे विकराल स्वरूप दिखाकर डर उपजाते हैं। इन यक्षिणियोंका स्वरूप अन्तर्दृष्टिसे ही दीख पड़ता है। इसलिये साधकको चाहिये कि इनकी कुचेष्टाओंसे न तो मोहित होकर अनर्थ कर बैठे और न कुछ भय ही माने। किन्तु अटल होकर अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ता चला जाय और यह

विश्वास रखे रहे कि ये सब उपाधियाँ योग–भङ्ग करनेके लिये दैवी माया हैं, वास्तवमें स्वप्नके समान मिथ्या ही हैं।

उक्त पाँचों प्रकारकी धारणाओंके सिद्ध हो जाने पर साधकको सत्–चित्त–आनन्दका अनुभव होने लगता है और सिद्धोंका दर्शन भी। ऐसी अवस्थाके प्राप्त होने पर ही साधक ध्यान करनेका अधिकारी होता है और षट्चक्रों के भेदन करनेकी योग्यता पाता है।

विना एकाग्र–चित्त हुए धारणाका अभ्यास नहीं हो सकता। इस पर योगवासिष्ठमें इस प्रकार लिखा है:—

सुस्थेयं क्षुरधारासु निशितासु महीपते।
धारणासु तु योगस्य दुःस्थेयमकृतात्मभिः ॥ ४ ॥

अत्यन्त तीक्ष्ण (चोखी) क्षुरेकी धारपर कदाचित सुखपूर्वक भले ही स्थिर रह सके परन्तु विक्षिप्त चित्तवाला मनुष्य योगकी धारणाको सिद्ध कर ले यह नहीं हो सकता इसलिये प्रमादको त्यागकर गुरुके बताये हुए मार्गपर दृढ़तापूर्वक चलकर पंचविध धारणाओंको सिद्ध करे॥ ४॥

धारणाका महत्त्व।

यस्तु तिष्ठति कौन्तेय ! धारणासु यथाविधि।
मरणं जन्म दुःखं च सुखं च स विमुञ्चति ॥ ५ ॥

—मोक्षधर्म.

हे कौन्तेय ! जो मनुष्य विधिपूर्वक यौगिक धारणाको अभ्यास द्वारा सिद्ध कर लेता है वह संसारमें जन्म, मरण, सुख और दुःखको समूल नष्ट कर देता है। अर्थात् उसे फिर वारंवार जन्म लेने और मरनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती तथा दुःखमय क्षणिक सुखोंके थपड़े नहीं सहने पडते। किन्तु मोक्ष-धाममें जानेके लिये अकंटक राजमार्ग प्रस्तुत (तैयार) रहता है॥ ५॥

इति श्रीपण्डित शिवनाथशर्मात्मज–पं० रामनरेशमिश्र 'प्रेम' विरचिते भाषाटीकायुते बृहद्योगसोपाने षष्ठसोपान–प्रकरणं समाप्तम्।

अथ सप्तम सोपान प्रकरण

ध्यानका निरूपण

धारणा पञ्च नाडीभिर्ध्यानं च षष्टिनाडिभिः ॥"

'पाँच घटी पर्यन्त आधारादि चक्रोंमें मनको लय करके प्राणवायुके रोकनेका नाम धारणा है' यह मैं गत प्रकरणमें लिख चुका हूँ, अब उस ध्यानका निरूपण लिखता हूँ— जिसकी सिद्धावस्थाका परिमाण ६० दण्ड यानी २४ घंटे होते हैं:—

ध्यानका लक्षण

तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम् ।। १ ।।

—योगदर्शन ३ पाद. २ सू.

(तत्र) धारणामें (प्रत्यय) बुद्धि अथवा चित्तकी (एकता) एकाग्रताका नाम 'ध्यान' है। अर्थात् धारणाकी अपेक्षा अधिक काल पर्यन्त इष्ट ध्येयके विषे चित्तकी वृत्तियोंका एकाग्र होना ध्यान कहाता है। यानी यहाँ पाँच घटी पर्यन्त ध्येय पदार्थमें निरवच्छिन्न चित्त-वृत्तियोंका एकत्र होना धारणा कही जाती है वहाँ यदि चौबीस घंटे तक निरवच्छिन्न तदाकार रहे तो वही ध्यान कहा जायगा ।। १ ।।

अथवा——

स्मृत्येव सर्वचिन्तायां धातुरेकः प्रपद्यते ।
यश्चित्ते निर्मला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते ।। २ ।।

—गोरक्षपद्धति.

साधारण चिन्ताका वाचक 'स्मृ चिन्तायाम्' यह धातु है। और किसी भी ध्येय पदार्थको लक्ष्यमें रखकर चिन्तन करते रहना ध्यान शब्दका वाच्यार्थ है।

चित्तमें निर्मल यानी जिसमें किसी तरहका विकार न हो ऐसी चिन्ताका होना 'ध्यान' कहाता है। सूत्रकारके लक्षणमें और इस लक्षणमें केवल इतना ही भेद है कि कितने काल पर्यन्त चिन्तन करते रहना ध्यान कहा जाता है? यह बात इस लक्षणमें नहीं है और सूत्रमें 'तत्र' शब्दसे कालका भी बोधन हो जाता है ।। २ ।।

ध्यानका द्वैविध्य

द्विविधं भवति ध्यानं स-कलं निष्कलं तथा ।
स--कलं चर्याभेदेन निष्कलं निर्गुणं भवेत् ।। ३ ।।

—गोरक्षपद्धति.

सगुण और निर्गुण भेदसे ध्यान दो प्रकारका होता है आगम और निगममें बताये हुए लक्षणसे यानी राम, कृष्णआदिकोंके चतुर्भुजाकार, श्यामवर्ण, शंख चक्रादि आयुधवाले स्वरूपका ध्यान करना 'सगुण–ध्यान' कहाता है और एकान्तस्थानमें बैठकर स्वस्तिक अथवा पद्म आदि आसनोंको लगाकर उपोद्घात प्रकरणमें बताये हुए आधारादि चक्रोंमें प्राणवायुको रोककर जिसमें किसी प्रकारका मल नहीं होता ऐसे ज्योतिस्वरूपका ध्यान करना 'निर्गुण ध्यान' कहाता है ।। ३ ।।

---

१ "ध्यैं चिन्तायाम्" इस धातुसे भावमें ल्युट् प्रत्य होकर ध्यान शब्द निष्पन्न होता है।

शरीरके अन्दर योगियोंके लिये ध्यान करनेके मुख्य सात (७) स्थान हैं :—

गुदं मेढ्रं च नाभिश्च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः ।
घण्टिकालम्बिकास्थानं भ्रूमध्यं च नभोबिलम् ।।
कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः ।। ४ ।।

—गोरक्षपद्धति.

गुद (मूलाधार) १, मेढ्र (स्वाधिष्ठान) २, नाभि (मणिपूरक) ३, हृत्पद्म (अनाहत) ४, तदूर्ध्व (विशुद्ध) ५, आज्ञाचक्र ६, और नभोबिल (ब्रह्मरंध्र) ७, ये सात ध्यानके स्थान हैं ।। ४ ।।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वर्णाभं च चतुर्दलम् ।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्बिषैः ।। ५ ।।

(१) सुवर्णके समान वर्णवाला चार दलवाले कमलकी तरह अधाार चक्र हैं। इसकी कर्णिकामें विराजमान शिवलिंगके शिरपर साढे तीन आवृत्ति करके बैठी हुई कुण्डलिनी शक्ति है। चक्रमें सगुण अथवा निर्गुणका ध्यान करनेसे साधक समस्त पापोंसे भुक्त हो जाता हैं।। ५ ।।

स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्यसमप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा योगी सुखीभवेत् ।। ६ ।।

(२) उत्तम मणिके समान देदीप्यमान छः दलवाले स्वाधिष्ठानचक्रमें नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि लगाकर सगुण या निर्गुण ज्योतिस्वरूप आत्माका ध्यान करनेसे साधकको सच्चे सुखका अनुभव होता है।। ६ ।।

तरुणादित्यसंकाशे चक्रे च मणिपूरके ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोपयेज्जगत् ।। ७ ।।

(३) प्रचण्डतेजवाले सूर्यके समान प्रदीप्त तीसरा मणिपूरक चक्र है। नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि रखकर इस चक्रमें सगुण अथवा निर्गुण आत्मतत्त्वका ध्यान करके साधक संपूर्ण जगत् क्षोभित कर सकता है।। ७ ।।

हृदाकाशे स्थितं शम्भुं प्रचण्डरवितेजसम् ।
नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ।। ८ ।।

(४) हृदयरूप आकाशमें चौथा अनाहत चक्र है। उसकी बारह कर्णिकाओं के मध्य प्रचण्ड सूर्यकी तरह तेजस्वी श्रीशम्भुका ध्यान नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि जमाकर करनेसे साधक ब्रह्ममय होजाता है।। ८ ।।

सततं घण्टिकामध्ये विशुद्धे दीपकप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ।। ९ ।।

(५) कंठस्थानमें विराजमान विशुद्धचक्रमें परम प्रकाशस्वरूप आत्माका ध्यान नासिकाग्रमें दृष्टि स्थिरकर करनेसे साधक ब्रह्ममय हो जाता है ।। ९ ।।

भ्रुवोरन्तर्गतं देवं सन्माणिक्यशिखोपमम् ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ।। १० ।।

(३) दोनों भौंहोंके मध्यमें स्थित जो आज्ञाचक्र है उसमें मणिकी शिखा समान प्रदीप्त निर्गुण अथवा सगुण आत्माका ध्यान नासिकाग्रमें दृष्टि रखकर करनेसे साधक आनंदमय हो जाता है ।। १० ।।

आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते ।
तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ।। ११ ।।

जिस स्थानमें अनहद नाद होता रहता है ऐसा वह आकाश तत्त्व स्थान मनका स्थान है । वही भ्रू मध्यमें आज्ञाचक्र कहाता है । इस चक्रमें शिव स्वरूप आत्माका ध्यान करके साधक मुक्त हो जाता है ।। ११ ।।

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ।। १२ ।।

(७) आज्ञा चक्रके ऊपर शून्यस्थानमें अजरामर चक्र (ब्रह्मरन्ध्र) हैं । उस स्थानमें निर्मल आकाशकी तरह मरीचिकाके जलसमान, सर्वव्यापक तेजस्वरूप आत्माका ध्यान करके साधक संसार–बन्धनसे छूटकर मुक्त हो जाता है ।। १२ ।।

एषु ब्रह्मात्मकं तेजः शिवज्योतिरनुत्तमम् ।
ध्यात्वाज्ञात्वाविमुक्तः स्यादिति गोरक्षभाषितम् ।। १३ ।।

इन स्थानोंमें अभ्यास द्वारा यथाक्रम कल्याणकारक ज्योतिरूपका ध्यान करते हुए अपनी आत्माको अच्छे प्रकार जानकर साधक जन्म–मरणके बन्धनोंसे छूट जाता है ऐसा गोरक्षनाथजीका अटल सिद्धान्त है । प्रथमके छः चक्रोंको भेदन करके ही सातवें चक्रमें जानेकी शक्ति प्राप्त होती है ।। १३ ।।

ध्यानका महत्त्व

यथा सुवर्णं पटुपाकशोधितं
त्यक्त्वा मलं स्वात्मगुणं समृच्छति ।
तथा मनः सत्त्वरजस्तमोमलं

तथा मनः सत्त्वरजस्तमोमलं
ध्यानेन संत्यज्यसमेति तत्त्वम् ।। १४ ।।

—विवेकचूडामणि.

जिस तरह क्षार आदि पदार्थद्वारा विधिपूर्वक शोधन करने पर सुवर्ण अपने मलोंको त्यागकर उज्ज्वल स्वरूप पा जाता है इसी तरह ध्यान द्वारा सत्त्व, रज और तमोगुणके संयोगसे मलिन हुआ मन निर्मल होकर आत्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है ।। १४ ।।

क्रियान्तरासक्तिमपास्य कीटको,
ध्यायन्नलित्वं बलिभावमृच्छति ।
तथैव योगी परमात्मतत्त्वं,
ध्वात्वा समायाति तदेकनिष्ठताम् ।। १५ ।।

—विवेकचूडामणि.

जैसे अन्य क्रियाओंकी आसक्तिको छोड़कर यानी अन्य दूसरे उपायोंको न करके केवल भ्रमरपनका ही निरन्तर ध्यान करते २ कीट, पतंग आदि भ्रमरके रूपमें परिणत हो जाते हैं अर्थात् भ्रमर बन जाते हैं ऐसे ही साधक लोग भी आत्म-तत्त्वका ध्यान करते २ एकनिष्ठता यानी ईश्वररूपता पा जाते हैं। सारांश यह कि केवल एक ध्यानमें ही ऐसा गुण है कि उसके प्रभावसे यह जीवात्मा जीव-संज्ञाको त्यागकर परमात्मामें मिल जाता है। यानी मुक्त हो जाता है ।। १५ ।।

इति श्रीपण्डित-शिवनाथशर्मात्मज-पं. रामनरेश-मिश्र 'प्रेम' विरचिते भाषाटीकायुते बृहद्योगसोपाने सप्तमसोपान-प्रकरणं समाप्तम् ।।

अथ अष्टम सोपान प्रकरण ।

समाधिका निरूपण

"दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात्" । जब लगातार बारह दिनतक शरीरके अन्दर प्राणवायु तदाकारवृत्तिसे ब्रह्मानन्द लेने लग जाय तो समाधि संज्ञा होती है। इसका विवेचन निम्नलिखित है :--

समाधिका लक्षण ।

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ।। १ ।।

—हठयोग.

जैसे सेंधा नमक जलका संयोग होनेपर जलके साथ एकताको प्राप्त हो जाता है ऐसे ही आत्मामें धारण किया हुआ मन तदाकार होनेसे आत्मरूपको प्राप्त हो जाता है। इसी आत्मा और मनकी एकताका नाम 'समाधि' है ॥ १ ॥

अथवा —

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ २ ॥

योगदर्शन–३ पा. ३ सू.

(तत्-एव) गतप्रकरणमें बताया हुआ वह ध्यान ही जब (अर्थमात्र निर्भासि) अर्थमात्र अर्थात् ध्येयस्वरूपमात्रका ही निरन्तर भान हो तथा (स्वरूपशून्यमिव) अपने ध्यानाकार स्वरूपसे शून्यसा दीखे तो (समाधिः) 'समाधि' कही जाती है। भावार्थ–यह कि पूर्वोक्त ध्यान ही जब अभ्यासके बलसे अपने ध्येयाकार स्वरूपको त्यागकर केवल ध्येयस्वरूपमात्रसे अवस्थित होता है तो उसे समाधि कहते हैं। जिस तरह समुद्रमें गिरा हुआ जलका बिन्दु समुद्रजलके साथ अभिन्न हो जाता है इसी तरह जब ध्येयवस्तुमें लगा हुआ मन ध्येय वस्तुसे अभिन्न हो जाय तो समझ लेना चाहिये कि अब समाधि अवस्था प्राप्त होगई। ध्यान और समाधिमें इतना ही भेद है कि ध्यानमें ध्यान करनेवालेको अपना और ध्येय वस्तुका, एवं ध्यान करनेका ज्ञान रहता है समाधिमें ये सब नहीं रहते। अर्थात् समाधिस्थ साधकको न तो ध्येयवस्तुका ही भान रहता है और न यही भान रहता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ। इसी तरह वह यह भी नहीं जानता कि मैं कौन हूँ ?।

पूज्यपाद श्रीगौडपादाचार्यजीने लिखा है कि—'सब दोषोंसे रहित होकर मनका ब्रह्ममें लग जाना समाधि है।' मतलब यह कि मनमें अनेक दोष रहते हैं, उन सबकी गणना–१ विक्षेप, २ लय, ३ कषाय और ४ रसास्वाद; इन चार पारिभाषिक नामोंसे की जाती है। विषयोंकी लालसासे मनका विषयोंमे घूमना 'विक्षेप' है, विषयोंमें घूमते घूमते थककर अपने कारण रूप अज्ञानमें मनका लय हो जाना 'लय' है और मन न तो विषयोंमें घूमे और न अज्ञानमें ही लय हो, एवं न ध्येयाकार ही हो, किन्तु चेष्टारहित स्तब्ध हो जाय तो इसका नाम 'कषाय' है। इन तीनों व्यापारोंसे रहित मन ब्रह्माकार न होकर ब्रह्मके आनन्दका स्वाद लेने लग जाय तो रसाऽऽस्वाद' कहाता है। जैसे शीतलपना जल नहीं है ऐसे ही ब्रह्मका आनन्द ब्रह्म नहीं है, किन्तु ब्रह्मका गुण है। जैसे केवल शीतलताकी पूर्ण मात्रामें जलको नहीं पीसकता ऐसे ही ब्रह्मके आनन्दमें ही लीन होनेवाला ब्रह्मका यथार्थ अनुभव नहीं कर सकता। इसलिये साधकको

उचित है कि ब्रह्मके आनन्दका स्वाद लेनेमें ही न पड़ा रहे, किन्तु ब्रह्माकारवृत्ति करनेका प्रयत्न करे।

विषयोंमें दोष—दर्शनसे और ब्रह्म ही केवल सुखरूप है, अन्यमें वास्तविक सुख नहीं है ऐसी भावना करनेसे विक्षेप दोष दूर होता है, निद्रादोष दूर करने और युक्त आहार विहार करनेसे लय दोष दूर होता है, चित्तकी परीक्षा करनेसे कषाय दोष दूर होता है और असंग रहनेसे रसाऽऽस्वाद दोष दूर होता है। इस प्रकार जब चित्तमें विक्षेप न हो और सुखका स्वाद भी न हो किन्तु सम ब्रह्ममें स्थिर हो तब अपने चित्तको स्थिर करके ब्रह्माकार रखे। इसको समाधि कहते हैं॥ २॥

सविकल्प और निर्विकल्प भेदसे समाधि दो प्रकारकी है :—

सविकल्प—जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूपी त्रिकुटीके लयकी अपेक्षा-सहित एक अद्वितीय वस्तुमें नियमित काल पर्यन्त चित्तकी वृत्तियोंकी तदाकार रूपसे स्थिति होती है वह 'सविकल्प-समाधि' कहाती है। इसमें द्वैतभावके रहते हुए भी अद्वैतपनेका भान इस प्रकार होता है—जैसे मिट्टीके घट शराव आदि के स्वरूपका भान होते हुए भी मिट्टीका भान होता है अर्थात् यह शराव मृत्तिका—मय ही है उससे भिन्न नहीं है, यह ज्ञान दृढ रहता है।

निर्विकल्प—समाधिमें ज्ञाता, ज्ञानादि भेदके लयकी अपेक्षारहित अद्वितीय वस्तुमें तदाकार रूपसे अत्यन्त एकीभावपूर्वक चित्तकी वृत्तियोंकी स्थिति बहुत समय पर्यन्त होती है। इस समाधिमें द्वैतपनेका बिल्कुल अभाव होता है। जिस तरह जलमें मिला हुआ नमक जलसे भिन्न नहीं भासता इसी प्रकार अद्वितीय ध्येय वस्तुमें तदाकार स्थित हुई चित्तकी वृत्तिमें द्वैतपनेका भान नहीं भासता, किन्तु अद्वितीय वस्तुमात्र ही भासती है। यद्यपि सुषुप्ति और समाधि, इन दोनोंमें चित्तकी वृत्तियोंका भान न होना बराबर होता है, परन्तु सुषुप्तिमें चित्त–वृत्तिका असद्भाव रहता है और समाधिमें वृत्तिका सद्भाव रहता है, यही इतना दोनोंमें भेद है।

योगाचार्योंने जो सविकल्प और निर्विकल्प नाम कहकर दो प्रकारकी समाधि मानी है वह केवल समाधिकी प्रथम और अन्तिम अवस्थाका भेद है, न कि समाधिके दो भेद हैं, क्योंकि समाधिका जो लक्षण है उससे स्पष्ट विदित होता है कि आद्यन्त अवस्थाको ही लेकर समाधिका दो भेद मान लिया गया है। आशय यह कि जब ध्यानकी सिद्धावस्था हो जाती है यानी चौबीस घंटे तक ध्येय वस्तुमें मन तदाकार होकर दृढ स्थिर होने लगता है उस समय ध्याता,

ध्येय और ध्यानका भान होते हुए चित्तकी वृत्ति एकीभावसे स्थित रहती है। यही ध्यानकी अन्तिम अवस्था या सिद्धावस्था कहाती है और यही समाधिकी प्रथम अवस्था कही जा सकती है। अभ्यास बलसे जब ध्याता, ध्येयादि अथवा ज्ञाता, ज्ञेयादिका भान निवृत्त होकर बहुतकालके लिये वृत्तियोंकी तदाकारता हो जाती है तो उसे ही निर्विकल्पसमाधि या असंप्रज्ञात योग कहते हैं। इसी निर्विकल्प समाधिद्वारा दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति और आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति होती है।

निर्विकल्प समाधिमें साधकके चित्तकी वृत्ति एकाग्र होकर तदाकारता किस प्रकार होती है, यह भी हठयोगप्रदीपिकाने बताया है :—

अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णःपूर्णः कुम्भ इवार्णवे ॥ ३ ॥

जिस तरह आकाशस्थ घट बाहर और भीतरसे शून्य रहता है इसी तरह निर्विकल्प समाधिमें स्थित योगी बाहर और भीतरसे शून्याकार यानी वासनारहित होता है और जिस तरह समुद्रके अन्दर गया हुआ घट बाहर एवं भीतरसे पूर्ण रहता है ऐसे ही स्वयं प्रकाश सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्ममें निमग्न योगी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि द्वारा बाहर और भीतर ब्रह्मरूप आनन्दसे पूर्ण रहता है। इस प्रकारकी अवस्थाको प्राप्त कर लेना ही परम पुरुषार्थ कहलाता है ॥ ३ ॥

समाधिशब्दके पर्याय

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ४ ॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ ५ ॥

१ राजयोग, २ समाधि, ३ उन्मनी, ४ मनोन्मनी, ५ अमरत्त्व, ६ लय, ७ तत्त्व, ८ शून्याशून्य, ९ परंपद, १० अमनस्क, ११ अद्वैत, १२ निरालम्ब, १३ निरंजन, १४ जीवन्मुक्ति, १५ सहजा, और १६ तुर्या; ये सोलह नाम 'समाधि' के हैं ॥ ४–५ ॥

निर्विकल्प—समाधि वालोंको क्या क्या लाभ होता है? यह भी अवलोकन करिये :—

बाध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा।
साध्यते नच केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥ ६ ॥

जब साधक समाधिमें स्थिर हो जाता है तो उसे मृत्युका भय नहीं रह जाता, यानी उस पर कालका वश नहीं चलता। और वह पाप–पुण्यरूप कर्म बन्धनोंमें नहीं बँधता। यहाँ तक कि संसारमें ऐसा कोई साधन नहीं होता जो उसे साध्य बना सके, क्योंकि निर्विकल्प समाधिकी अवस्थामें समस्त क्लेशोंका अभाव हो जाता है।। ६।।

समाधिके सिद्ध हो जाने पर साधकके लिये सारे सृष्टि प्रपंचमें कोई वस्तु ऐसी नहीं है कि जिसकी वह इच्छा करे और वह न प्राप्त हो सके। समाधि–सिद्ध योगियोंके पीछे २ वे आठ सिद्धियाँ लगी रहती हैं जिनके प्रभावसे निम्नलिखित कार्य हुआ करते हैं:—

१ इच्छा करते ही परमाणुरूप हो जाना, २ आकाशकी तरह स्थूल (लम्बा–चौड़ा) होना, ३ लघुपदार्थका पहाड़ आदिके समान गुरु (भारी) होजाना, ४ पर्वतादिके समान भारी होनेपर भी हलका हो जाना, ५ संपूर्ण पदार्थोंके निकट पहुँच जाना, जैसे कि भूमिपर ही स्थित रहकर अपनी अगुं-लीके अग्रभागसे चन्द्रमाको छू लेना, ६ जलके समान भूमिमें प्रवेश कर जाना और फिर निकल आना, ७ पाँचों भूत और उनसे उत्पन्न होनेवाले भौतिक पदार्थोंका बनाना, बिगाड़ना या यथावस्थित रखना और ८ भौतिक पदार्थोंको अपने वशमें रखना। तभी तो पूज्यपाद श्री १००८ स्वामी शंकराचार्यजीने राजाके शरीरमें प्रविष्ट होकर अपना अभीष्ट कार्य सिद्ध किया था।

यमसे लेकर समाधितक योगके आठ अङ्ग हैं। उनके नाम तथा गुण आदिका वर्णन हो चुका। अब उस 'हंयम' शब्दका परिचय पाठकोंके समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ जो पारिभाषिक सूत्रकी तरह धारणा, ध्यान और समाधिका बाधक है :—

त्रयमेकत्र संयमः ।। ७ ।।

—योगदर्शन—३ पा. ४ सू.

एक ही ध्येय-विषयमें धारणा, ध्यान और समाधि, इन तीनोंका होना 'संयम'[१] कहाता है। तीनोंका बोधन करनेवाला यह संयम शब्द लाघवके लिये योग–शास्त्रने माना है, क्योंकि उक्त तीनोंके फल आदिके वर्णन करनेमें बारंबार प्रत्येकमें जिससे न लिखना पडे, केवल संयम शब्दसे ही सर्वत्र काम चल जाय। फलके विषयमें बृहद् विवेचन योगदर्शनके विभूति और कैवल्य

---

१ दोहा—"धारण, ध्यान, समाधिका है, इक 'संयम' नाम।
इसी एक ही नाम से, लेना है बहु काम।" —प्रेम.

पादमें सविस्तार लिखा हुआ है, जो जिज्ञासु जानना चाहें वे योगदर्शन देखें ।। ७ ।।

तस्य भूमिषु विनियोगः ।। ८ ।।

–यो० ३ पा० ६ सू.

संप्रज्ञात योगमें चार भूमिकाएँ बतायी गई हैं—१ सवितर्का, २ सविचारा, ३ सानन्दा और ४ सास्मिता। इन भूमिकाओंमें इस संमयका विनियोग (संबंध) है। यथाक्रम अभ्यास द्वारा स्थूल भूमिकाओंको जीतकर सूक्ष्म भूमिकाओंको जीतना चाहिये। क्योंकि विना स्थूल भूमिकाओंको वशमें किये सूक्ष्म पर अधिकार नहीं हो सकता ।। ८ ।।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ।। ९ ।।

–यो० ३ पा. ७ सू०

यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, ये पाँच योगके बहिरंग सोपान हैं और धारणा, ध्यान एवं समाधि, ये तीन अन्तरंग सोपान हैं। क्योंकि ये तीनों एक ही विषयवाले होनेके कारण अन्तरके यानी अयत निकटके अंग हैं इसलिये 'अन्तरङ्ग' कहलाते हैं ।। ९ ।।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ।। १० ।।

–यो० ३ पा० ८ सू०

जैसे सबीज यानी संप्रज्ञात समाधिमें यम आदिक पाँच बहिरंग हैं वैसे ही निर्बीज (असंप्रज्ञात) समाधिमें धारणा आदि तीन ह्महिरंग हैं। क्योंकि असंप्रज्ञात समाधिमें कालका नियम नहीं रहता और धारणाआदिमें नियमिति काल होता है इसलिये बहिरंग हैं। सारांश यह कि असंप्रज्ञात या निर्विकल्प समाधिकी अपेक्षा योगके सभी अङ्ग अथवा सोपान बहिरंग हैं ।। १० ।।

अब उस मोक्ष अथवा कैवल्यका लक्षण लिखता हूँ जो निर्विकल्प-समाधि द्वारा प्राप्त होता है :—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः—
कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।। ११ ।।

–योगदर्शन.

पुरुषार्थ—शून्य गुणोंका प्रसव बन्द हो जाना, अथवा चितिशक्तिका अपने स्वरूपमें स्थित हो जाना ,कैवल्य' कहाता है। इसीका नाम 'अपवर्ग'

और 'मोक्ष' भी है। पुरुष और प्रकृतिका अलग अलग हो जाना, यानी प्रकृतिके नष्ट होने पर पुरुषका अकेला रह जाना ही कैवल्य है जो साधक विवेक और समाधि द्वारा अपने कर्मोंके संस्कार नष्ट कर देता है और हां, ऐसा कर देता है कि चित्तसे उनका नामोनिशान मिटा देता हैं वह स्वच्छस्फटिक मणिके समान अपने सत्त्वगुणमें चमकने लग जाता है। इस अवस्थामें उसे ईश्वर कहना चाहिये, क्योंकि वह जीवात्माकी कोटिसे पृथक् होकर परमात्मा हो जाता है।

यौगिक मतमें पुरुष और प्रकृतिका संयोग सारे प्रपंचके प्राकट्यका कारण माना गया है और इनका संयोग अविद्याजन्य बताया गया है। अविद्याके नष्ट होनेपर दोनोंका वियोग हो जाता है, यानी अविद्या नष्ट होकर पुरुष अकेला रह जाता है। इसी अवस्थाका नाम कैवल्य है। कैवल्यप्राप्तिके लिये योग और सांख्य दोनोंका सिद्धान्त एकसा ही है—योग तो निर्विकल्प समाधि द्वारा मोक्ष मानता है और सांख्य प्रकृति—पुरुष—विवेक द्वारा मानता है ॥ ११ ॥

कैवल्य पथपर नैयायिकोंका अभिमत इस प्रकार है :—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयव-
तर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजाति-
निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसिद्धिः ॥ १२ ॥

--न्यायदर्शन.

१ प्रमाण, २ प्रमेय, ३ संशय, ४ प्रयोजन, ५ दृष्टान्त, ६ सिद्धान्त, ७ अवयव, ८ तर्क, ९ निर्णय, १० वाद, ११ जल्प, १२ वितण्डा, १३ हेत्वाभास, १४ छल, १५ जाति और १६ निग्रहस्थान; इन सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष होता है ॥ १२ ॥

क्या ज्योंही उक्त पदार्थोंका ज्ञान हुआ कि मोक्ष मिल जाता है, यह बात है? तो इस पर सूत्रकार कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं है, किन्तु :—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरो-
त्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः ॥ १३ ॥

तत्त्वज्ञानसे तो मिथ्याज्ञानका नाश होता है और उसके नाश होने पर दोष दूर होते हैं। दोषोंके न रहनेपर प्रवृत्तिकी निवृत्ति हो जाती है और प्रवृत्तिके न होने से फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। जन्म लेनेसे जब छुटकारा हो जाता है तो समस्त दुःखोंसे भी छुटकारा मिल जाता है। यह दुःखोंका अत्यन्ताभाव ही 'मोक्ष' कहलाता है।

मिथ्याज्ञान--अनेक प्रकारके हुआ करते हैं, जैसे नास्तिकों की तरह यह मान लेना कि आत्मा कोई पदार्थ ही नहीं है, ऐसे ही अनात्माको आत्मा समझ लेना, दुःखमय पदार्थमें सुख समझना, अनित्यवस्तुको नित्य मान लेना आदि विपरीत रीतिसे वस्तुज्ञानका नाम मिथ्याज्ञान है, यानी तत्त्वज्ञानके विरोधी ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहना चाहिये। इस मिथ्याज्ञान द्वारा भुलाया हुआ मानवसमाज न जाने क्या क्या अनर्थ करता रहता है, कराता रहता है और उसका फल भी भोगता रहता है। मनुष्य यदि थोड़ा भी विवेकदृष्टिसे काम ले तो सहजमें ही यह बात ध्यानमें आजाती है कि चोर चोरी करता है, पकड़ा जाता है, बदनाम होता है, हां अन्तमें जेलमें जाकर असह्य वेदना भी सहता है इत्यादि उदाहरणोंके देखते हुए, समझते हुए यदि चोरी-जैसे कामोंकी ओरसे निवृत्ति नहीं हो पाती तो इसका सारा श्रेय उस मिथ्या ज्ञानको ही है। इसे यदि दूसरे शब्दोंमें कहें तो कह सकते हैं कि एक मिथ्याज्ञान ही सारे फसादकी जड़ है, विना इसकी निवृत्ति हुए मोक्ष या अपवर्गकी ओर नहीं जाने मिलता ॥ १३ ॥

वैशेषिकका मुक्तिपथ इस प्रकार है:--

धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्य-
विशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैध-
र्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ १४ ॥

—वैशेषिकदर्शन.

साधर्म्य और वैधर्म्यसे धर्मविशेष द्वारा उत्पन्नहोनेवाले जो द्रव्य, गुण कर्म सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक छः पदार्थ हैं उनके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है।

इनके यहाँ परमात्माके साक्षात्कारको मोक्षका कारण माना गया है और उसका साक्षात्कार श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा बताया गया है। वैदिक विधानपूर्वक ईश्वरविषयक शास्त्रोंका सुनना 'श्रवण' कहाता है और सुनी हुई वस्तुके याथात्म्यको विचार लेना 'मनन' कहाता है। वस्तुके याथात्म्य तहतक पहुंचनेके लिये अनुमानकी आवश्यकता होती है और वह अनुमान व्याप्तिज्ञानके अधीन है, क्योंकि विना हेतुसे साध्यको बाँधे अन्दाजा लग नहीं सकता। यह व्याप्तिज्ञान यथार्थ ज्ञानकी अपेक्षा रखता है, विना पदार्थोंके यथावत् ज्ञानके व्याप्तिज्ञान होना नितान्त असंभव है।

पदार्थोंके यथावत् ज्ञानके लिये वैशेषिक दर्शनकी सृष्टि हुई है। उसमें द्रव्य, गुण आदि छः पदार्थोंका विवेचन करके अनुमिति सिद्धिके तहतक पहुँचा देनेका मार्ग दिव्य दिखा दिया गया है। पदार्थोंका विवेचन व्याप्तिज्ञानमें सुविधा करनेके लिये किया है ताकि 'अनुमान' हो सके, जिसके द्वारा ,मनन' पक्का होकर ईश्वरके साक्षात्कारका कारण बन जाय।

वैशेषिकोंने जो 'श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे परमेश्वरका साक्षात्कार होकर मोक्ष मिल जाता है' यह बताया है, इस विषयमें श्रीदिनकर भट्टने श्रुतिका भी प्रमाण दिया है। तद्यथा—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतष्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' यह आत्मा साक्षात्कार करने योग्य है, किन्तु साक्षात्कार होनेके लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना होता है।

उपरोक्त कथनानुसार नैयायिकोंके यहाँ तो प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्षकी सिद्धि मानते हैं और वैशेषिकोंके दरबारमें द्रव्य गुण आदि छः पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है यह निर्धारित करते हैं। एकने तत्त्वज्ञानमें पदार्थ ज्ञानका उपयोग माना है तो दूसरेने व्याप्ति ज्ञानमें। इस तरह इन दोनों दार्शनिकोंकी एकसी प्रक्रिया चलती है।। १४।।

महाराज श्री १००८ शंकराचार्यजी 'आत्मैकत्वविद्या' के ज्ञान द्वारा मोक्ष मानते हैं। इन्होंने अपनी भाष्यभूमिकामें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि-- 'आत्मैकत्व विद्यासे मिथ्याज्ञानकी सदाके लिये निवृत्ति हो जाती हैं तब समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति अपने आप ही हो जाती है, अर्थात् मोक्षमिल जाता है।'

इनके यहाँ 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करने पर आत्मैकत्वविद्याका ज्ञान होता है और निदिध्यासनकी सिद्धावस्था में निर्विकल्प समाधिकी उपलब्धि होती है, जिससे अन्तःकरणकी सारी वासनाएँ सदाके लिये दूर हट जाती हैं। तब तो फिर सुख और दुःखदेनेवाले पुण्य और पापकर्मोंकी भी निवृत्ति हो जाती और पुण्य, पापके निवृत्त हो जाने पर मोक्ष—धाममें रहनेके लिये जीवात्माको अधिकार मिल जाता है , यानी यह जीवात्मा मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

इस तरह प्रत्येक दार्शनिक या वैज्ञानिकने अपने अपने मन्तव्यके अनुकूल मोक्ष माना है, पर ध्यान रहे कि तत्त्वज्ञान चाहे किसी भी दार्शनिकका बताया हुआ हो, किन्तु जबतक तत्त्वज्ञानके श्रवण और मननके बाद निदिध्यासन नहीं सिद्ध किया जायगा तबतक मोक्ष—धामके फाटकपर पहुँचना वास्तवमें नहीं हो सकता ।।

इस कथनकी पुष्टिमें महात्मा वशिष्ठजीने इसप्रकार बताया है :—

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते शाश्वती गतिः ॥ १५ ॥

योगवाशिष्ठ.

कहना न होगा कि इस संसारका अथवा इसमें रहकर किसी भी कार्य-सिद्धिका संपादन 'द्वन्द्व' की छत्र छायासे ही हुआ है, होता है और होता भी रहेगा। जिसकी जिस तरहसे उत्पत्ति होती है उसी तरह उसकी गति, मति आदि भी होनी चाहिये इसीसे होती भी है। यही कारण है कि प्राणियोंकी रचनाके सारे विभाग द्वन्द्व (दो) रूप ही रहते हैं। द्वन्द्वजनित पदार्थोंमेंसे एक इसी उदाहरणसे मोक्षका विषय स्पष्ट विदित होता जाता है कि जैसे जब आकाशमें पक्षी उड़ने लगता है या उड़ता रहता है तो अपने दोनों पक्षों (पंखों) का सहारा लेता है, अन्यथा वह तनिक भी नहीं उड़ सकता, ऐसे ही मोक्षके विषयमें भी समझना चाहिये, यानी मनुष्यके लिये मोक्ष तभी संभव हो सकता है जब ज्ञान और कर्म दोनों का आश्रय लिया जाय। सच्ची बात तो यह है कि विना कर्मके तत्त्वज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान ही नहीं हो सकता। इसीसे तो भगवान् कृष्णचन्द्रने 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' ब्रह्मका उद्भव यानी ब्रह्मका साक्षात्कार कर्म द्वारा होता है, यह अर्जुनके लिये क्या, सारे संसार के लिये उपदेश दिया है॥

कर्म, उपासना और ज्ञान, इनका बोध वेदसे ही होता है वेद ही कर्म करनेका उपदेश देता है, क्योंकि मूलरूप कर्मके पुष्ट हुए विना ज्ञान रूपी फल कैसे उत्पन्न हो सकता है? इस कर्मरूप वृक्षका सिंचन ही अनुत्तम लाभदायक ज्ञानरूपी फलको देनेवाला है। इसलिये कर्म द्वारा अन्तःकरण शुद्ध करके उपासनापूर्वक तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये। तभी तो—'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।' लिखा है॥ १५॥

यद्यपि इस वैज्ञानिक युगमें कुछ लोग ऐसे हुए हैं और अब भी हैं, जो कि आस्तिक तो हैं, पर हैं निराकारवादी। ये लोग साकारकी उपासनासे घृणा करते हैं, साकारकी उपासना करनेवालोंको अज्ञ (मूर्ख) कहते हैं, हेय समझते हैं और अपनी शक्तिके अनुसार उपासकोंके साथ वैरपनेकी आन भी निभाते हैं। हां, ये लोग ऐसा क्यों करते हैं, क्यों समझते हैं? इस प्रकारका प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर यही हो सकता है कि ऐसे करनेवाले, माननेवाले भूले हुए हैं, प्रकृति नटीके दरबारमें मुग्ध होकर मूढ हो गये हैं और प्राक्तनकर्मोंके

कठिन बन्धनोंसे जकड़े हुए हैं। नहीं तो इस तरह ये न कर सकते और न मान सकते। इस प्रकारके माननेवालोंके लिये यह एक ही दृष्टान्त या प्रत्यक्ष प्रमाण पर्याप्त है कि जैसे—सेना विभागमें जब मनुष्य भरती होता है तो उसे सर्व-प्रथम शारीरिक व्यायामोंके साथ साथ अस्त्र (बन्दूक आदि) का अभ्यास करनेके लिये स्थूल वस्तुपर ही निशाना लगवाया जाता है, न कि सूक्ष्म, या सूक्ष्मतर पर। कारण यह है कि आरम्भावस्थामें सूक्ष्म वस्तुपर निशाना लग ही नहीं सकता, किन्तु अभ्यास करते करते कुछ दिनमें स्थूलसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर पर आसानीसे लग जाया करता है। इसी तरह निर्गुण ब्रह्मके साक्षात्कार करने के लिये पहले सगुणोपासनाकी आज्ञा वेद और शास्त्रोंने दी है, कि जिससे सगुण-रूपमें अभ्यास दृढ हो जाय, और निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार हो सके। अन्यथा ब्रह्म या आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकेगा।

तद्यथा :—

शर्करा जलसंयुक्ता शर्करात्वं हि गच्छति।
सगुणं ध्यायतो नित्यं निर्गुणत्वं यतथोच्यते ।। १६ ।।

जैसे जिस समय शक्कर जलके साथ मिल जाती है तो वह शक्करपनेको प्राप्त हो जाती है; यानी अपने सूक्ष्म रूपको पा जाती है ऐसे ही सगुण ब्रह्मका प्रतिदिन ध्यान करते करते यह आत्मा निर्गुणपनेको[1] पा लेता है ।। १६ ।।

इसलिये—

सगुणोपासनाभिस्तु चित्तैकाग्र्ययं विधाय च।
मोक्षमार्गं व्रजेज्जीवो मुक्तो भवति नान्यथा ।। १७ ।।

सगुण ब्रह्म अथवा राम, कृष्ण आदि किसी भी अपने आराध्य देवकी उपासना द्वारा चित्तको एकाग्र करके मोक्षधामको जाना चाहिये, अन्यथा यह जीव मुक्त नहीं हो सकता ।। १७ ।।

वह ब्रह्म संसारी प्राणियोंको उद्धार करनेके लिये अनेक नामोंसे प्रसिद्ध है। हमारे प्राचीन आचार्योंका यह अटल सिद्धान्त है कि इन अनेक नामोंसे दर्शन शास्त्रके द्वारा समर्थित उस एक ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया जाता है।

---

१ चौपाई—"जो गुनरहित सगुण सो कैसे ?
जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे ।।
फूले कमल सोह सर कैसे ?
निर्गुण ब्रह्म सगुण भये जैसे ।।" तुलसीदास.

यथा :—

एतमेके वदन्त्यग्निमनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ।। १८ ।।

—मनुस्मृति.

उस परमात्माको कोई अग्नि कहता है, और कोई प्रजापति कहता है तो कोई इन्द्र । कोई प्राण कहता है तो कोई शाश्वत ब्रह्म । यानी इन सब नामोंसे उस एक परमात्माका ही निर्देश किया गया है ।। १८ ।।

ऐसा ही वेदोंमें भी लिखा है, यथा :—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निराहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्राःबहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।। १९ ।।

—ऋग्वेद.

उस एक परमात्माको ही विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि आदि अनेक नामोंसे कहते हैं और उस एक आत्मा—ईश्वरकी ही अनेक नामों वैदिक साहित्यमें स्तुति की गयी है। तात्पर्य यह कि किसी भी नाम—रूपकी श्रद्धापूर्वक उपासना अवश्य करनी चाहिये, अन्यथा ब्रह्मको प्राप्त कर लेना, यानी मोक्ष प्राप्त होना ख-पुष्पके समान असम्भव ही है ।। १९ ।।

इस तरह योगकी अन्तिम अवस्थातक यानी निर्विकल्प समाधि द्वारा मोक्षप्राप्ति तकका निरूपण लिखकर लेखनसमाप्तिके वर्ष आदिका उल्लेख कर ग्रन्थ समाप्त करता हूँ :—

वर्षे विक्रमभूपतेर्युगनवाङ्कोर्वीमिते माधवे,
शुक्लेशुक्रदिनेविभावसुतिथौसंपूरितं लेखनम् ।।
द्वन्द्वाऽऽघातनिवृत्तये मुनिवरैः श्रीयोगमार्गो करः,
प्रोक्तस्तत्रनिदर्शितं सुखकरंसोपानमष्टात्मकम् ।। २० ।।
यद्यप्यस्य कृते विशेषरचना सम्यक्कृता पूर्वजैः,
किन्त्वस्मिन्विषयेविवेकसहितंसारल्यभावैर्युतम् ।।
‘हिन्दी’-वाग्भवकं विबोधजनकं नास्त्येककंपुस्तकम्,
हीत्थं ‘प्रेम’ धिया विचार्य रचितं श्रीयोगसोपानकम् ।। २१ ।।

श्रीसंवत् १९९२ विक्रम, वैशाख शुक्ल प्रतिपद, शुक्रवारको इस ‘बृहद्योगसोपान’ नामक पुस्तकका लेखन समाप्त हुआ । द्वन्द्वजनित दुःख और

क्षणिक सुखोंकी निवृत्तिके लिये अर्थात् संसार—बन्धनसे छूटकर मुक्त होनेके लिये हमारे प्राचीन महर्षियोंने केवल एक योग–साधन ही सर्वश्रेष्ठ बताया है। इस योगसाधनके मार्गको बतानेवाले ग्रन्थ प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषामें अनेक–प्रकारके इस समय प्रस्तुत हैं, परन्तु हिन्दीमें ऐसी पुस्तकका आजतक अभाव ही रहा कि जिसमें योगकी सारी बातें सरल रीतिसे बता दी गई हों। इसलिये मैंने इस 'बृहद्-योगसोपान' ग्रंथका संग्रहात्मक निर्माण किया है ॥ २०–२१ ॥

**इति प्रतापगढ़प्रान्तान्तर्गत–भँवरी (पूरे तिलकदास) ग्राम निवासि–
श्री पं० शिवनाथ शर्मात्मज पं० रामनरेश मिश्र 'प्रेम' विरचिते
बृहद्योगसोपानेऽष्टमसोपान–प्रकरणं समाप्तम्।**